Contents

1.	**डॉ. जगतपाल** *धर्म-निरपेक्ष की अवधारणा का दार्शनिक विश्लेषण*	1
2.	**अखिलेश्वर प्रसाद दुबे** *आधुनिकता की व्याख्याः एक प्रयास*	6
3.	**ऋषि कान्त पाण्डेय** *सर्वोदय-दर्शनः एक विमर्श*	12
4.	**सारिका श्रीवास्तव** *मानव अधिकार शिक्षा के प्रति महाविद्यालयों के छात्रों की अभिवृत्ति का अध्ययन*	19
5.	**नितिश दुबे** *मनुस्मृति और राजधर्म*	26
6.	**राममूर्ति पाठक** *भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ के आदर्श की प्रासंगिकता*	31
7.	**स्वाति सक्सेना** *सन्त कबीर का मानवतावादी दृष्टिकोण*	38
8.	**प्रियंका तिवारी** *याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रायश्चित का स्वरूप*	43
9.	**ज्ञान प्रकाश उपाध्याय** *श्रीमद्भगवद् गीता में शान्ति की अवधारणाः एक विमर्श*	48
10.	**नमिता** *आचार्य शंकर का जगत् मिथ्यात्व*	54
11.	**क्षमा तिवारी** *योग दर्शन में कैवल्य की अवधारणा*	67
12.	**अजय कुमार** *सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं धर्म*	72
13.	**सुनील कुमार शुक्ल** *भारतीय राजदर्शन में कौटिल्य का अवदान*	77

14. Indoo Pandey Khanduri 83
The Pragmatic Implications of Gandhian Insights of Ahimsa

15. Raghwendra Pratap Singh 94
Deconstruction and Communicative Rationality Analysing The Anti-Thetical

16. Surya Kant Maharana 111
*Is Husserl's Phenomenology a Philosophy of Science?*The*

17. Gopal Sahu *115*
Wittgenstein on Skepticism of External World

18. H. S. Upadhyaya *123*
Dharma : Ideal and Praxis in the Emerging Global Scenario

19. Dr. Rajni Srivastava *132*
Search for a better world: Liberalism and its limitation- A Buddhist response

20. Gayatri Sinha *141*
The Teachings of Sri Ramakrishna And Neo-Vedanta

22. Ved Prakash Upadhyay *148*
On Justification of Human Rights

23. Pawan Kumar Yadav *155*
Epistemology of Human Rights & it's Critical Examine

24. Sony Perwin *163*
Nature and Value of First Order Ethics

धर्म-निरपेक्ष की अवधारणा का दार्शनिक विश्लेषण

अध्यक्षीय व्याख्यान

डॉ. जगतपाल

अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, नार्थहिल यूनिवर्सिटी (NEHU)

176A/F.01, स्वास्तिक अपार्टमेन्ट, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा का न तो एक ऐतिहासिक विवेचना करना है और न ही किसी धर्म-निरपेक्षवादी मत का खण्डन या मण्डन करना है। इस लेख में मेरा उद्देश्य धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा का केवल एक दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है और विश्लेषण के माध्यम से यह दिखाना है कि धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा में न तो धर्म की अवधारणा का निषेध है और न ही व्याघात। धर्म-निरपेक्षवाद न तो कोई धर्म है, और न ही किसी धर्म पर आधारित सिद्धान्त। धर्म-निरपेक्षवाद बुद्धि पर आधारित मानवतावादी एक दार्शनिक चिन्तन या दृष्टिकोण है जो मानवतावादी नैतिकता को महत्व देता है और धर्म को नैतिकता पर आधारित करता है, नैतिकता को धर्म पर नहीं। धर्म-निरपेक्षवाद न केवल एक मानव जीवन-दर्शन है, बल्कि एक जीवन-पद्धति भी है जिसके द्वारा मानव-मानव को वैज्ञानिक ढंग से एक सूत्र में बाँधा जाता है और उनके सर्वांगीण विकास और कल्याण की बात सोची जाती है। धर्म-निरपेक्षवाद का प्रश्न मानव-समाज के अन्दर उत्पन्न होता है और मानव समाज के अन्दर तभी उत्पन्न होता है जब राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, प्रशासन, कानून और नैतिकता का टकराव धर्म से होता है, अन्यथा नहीं। धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा में न तो धर्म का निषेध है और न ही व्याघात, न ही कोई धर्म है और न ही किसी धर्म पर आधारित सिद्धान्त को हम विश्लेषण के माध्यम से इस प्रकार देख सकते हैं।

''सिक्युलरिज्म'' शब्द का अनुवाद हिन्दी में ''धर्म-निरपेक्षवाद'' के रूप में किया जाता है। कुछ लोग ''सिक्युलरिज्म'' शब्द का अनुवाद हिन्दी में ''पन्थ-निरपेक्षवाद'' के रूप में करते हैं। जो लोग ऐसा करते हैं वे ''धर्म'' और ''पन्थ'' में भेद करते हैं। उनके अनुसार ''धर्म'' का सम्बन्ध अध्यात्मिकता से है जो व्यक्तिगत होता है। ''धार्मिक'' का मतलब होता है आध्यात्मिक होना और ''आध्यात्मिक'' का मतलब होता है आन्तरिक अध्यात्मिक तत्व आत्मा का अनुभव करना जो व्यक्तिगत होता है, पन्थात्मक नही। जबकि ''पन्थ'' का सम्बन्ध उन लोगों से होता है जो विशिष्ट धर्म के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार ''धार्मिक'' का मतलब होता है एक हिन्दू, एक बौद्ध, एक जैन, एक सिख, एक ईसाई अथवा एक मुसलमान होना। ''धर्म'' चाहे व्यक्तिगत हो अथवा पन्थात्मक, आस्तिक हो अथवा नास्तिक, ईश्वरवादी हो अथवा अनीश्वरवादी, आध्यात्मिक हो अथवा नैतिक सदैव अलौकिक अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों अथवा सत्ताओं की आस्था पर आधारित होता है, बुद्धि अथवा तर्क पर नहीं जिसके ऊपर धर्म-निरपेक्षवाद का सिद्धान्त आधारित नहीं होता है। ''धर्म-निरपेक्ष'' का मतलब होता है धर्म-स्वतन्त्र और ''धर्म-स्वतन्त्र'' का मतलब होता है जो धर्म पर आश्रित न हो यानी धर्म-निराश्रित और ''धर्म निराश्रित'' न तो धर्म का निषेध करता है और न ही व्याघात। दूसरे शब्दो में, ''धर्म-निरपेक्षता'' न तो निरपेक्ष धर्म का निषेध करता है और न ही सापेक्ष धर्म का क्योंकि ''धर्म निरपेक्षता'' न तो ''निरपेक्ष धर्म'' का व्याघाती शब्द है और न ही ''सापेक्ष धर्म'' का ''धर्म-निरपेक्षता'' केवल धर्म-सापेक्षता'' का व्याघाती शब्द है जो ''निरपेक्ष धर्म'' और ''सापेक्ष धर्म'' दोनो शब्दों से भिन्न शब्द है। ''निरपेक्ष धर्म'' का मतलब होता

है वह धर्म जो किसी विशिष्ट धर्म पर आधारित न हो यानी सार्वभौम धर्म। ''सापेक्ष धर्म'' का मतलब होता है वह धर्म जो किसी विशिष्ट धार्मिक सिद्धान्त पर आधारित होता है यानी विशिष्ट धर्म। ''धर्म-निरपेक्ष'' का मतलब होता है धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र और ''धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र'' का अर्थ न तो सार्वभौम धर्म होता है और न ही विशिष्ट धर्म। ''धर्म-निरपेक्षवाद'' केवल धर्म-सापेक्षता का निषेध करता है जो सापेक्ष धर्म से भिन्न है। चूँकि ''धर्म-निरपेक्षता'' न तो निरपेक्ष धर्म का निषेध करता है और न ही सापेक्ष धर्म का, इसलिए कोई भी व्यक्ति चाहे वह आस्तिक हो अथवा नास्तिक, ईश्वरवादी हो अथवा अनीश्वरवादी, आध्यात्मिक हो अथवा भौतिकवादी धर्म-निरपेक्षवादी हो सकता है। इसमें कोई तार्किक विरोध अथवा असंगति नहीं हैं। ''धर्म-निरपेक्षता'' केवल धर्म-सापेक्षता का निषेध करता है और ''धर्म-सापेक्षता के निषेध'' का अर्थ धर्म का निषेध नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यही नहीं है कि धर्म-निरपेक्षता धर्म का प्रतिपादन करता है। ''धर्म-निरपेक्षता'' न तो धर्म का निषेध करता है और न ही प्रतिपादन। यदि धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा में धर्म का निषेध निहित होता तो यह धार्मिक व्यक्ति धर्म-निरपेक्षवादी नहीं होता जो कि सत्य नहीं है, धार्मिक व्यक्ति धर्म निरपेक्षवादी हो सकता है। यही नहीं, यदि धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा में धर्म का समावेश होता तो कोई भी भौतिकवादी धर्म-निरपेक्षवादी नहीं होता जो कि सत्य नहीं है। भौतिकवादी व्यक्ति धर्म-निरपेक्षवादी हो सकता है। धार्मिक व्यक्ति और भौतिकवादी व्याक्ति दोनों धर्म-निरपेक्षवादी हो सकते हैं क्योंकि धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा ये न तो धर्म का निषेध निहित और नहीं प्रतिपादन। धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा धर्म से तटस्थ अवधारणा है। कोई भी व्यक्ति चाहे धर्म में विश्वास करता हो अथवा न करता हो, धर्म-निरपेक्षवादी हो सकता है, इसमें कोई तार्किक विरोध अथवा विसंगति नहीं है। समस्या तभी उत्पन्न होती है जब हम ''धर्म-निरपेक्ष'' को ''निरपेक्ष धर्म'' और ''सापेक्ष धर्म'' का व्याघाती शब्द मान जाते हैं और एक दूसरे से मिश्रित करते है जो कि नहीं होना चाहिए। जो लोग यह दावा करता है कि ''कोई भी व्यक्ति धर्म-निरपेक्षवादी नहीं हो सकता है'' उनका यह कथन सत्य तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि कोई भी मानव-चिन्तन धर्म रहित नहीं हो सकता है जो कि सत्य नहीं है। धर्म-निरपेक्षवाद की यह मान्यता है कि मानव-चिन्तन में धर्म की कोई अनिवार्य भूमिका नहीं होती है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मानव-चिन्तन धर्माश्रित नहीं होता है। मानव-चिन्तन धर्माश्रित होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसका अभिप्राय केवल यही है कि मानव-चिन्तन का सम्बन्ध धर्म से अनिवार्यतः नहीं होता है। मानव-चिन्तन धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र हो सकता है। इसी मान्यता पर धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा आधारित हैं। यदि यह सत्य है तो कोई भी व्यक्ति धर्म-निरपेक्षवादी हो सकता है। इसमें कोई तार्किक विरोध अथवा विसंगति नहीं है और मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान धर्म से ऊपर उङ्कर किया जा सकता है जो धर्म निरपेक्षवादी का उद्देश्य होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा न तो धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित कोई अवधारणा है, और न ही किसी धर्म की शिक्षा देता है। चूँकि धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा न तो धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित कोई अवधारणा है और न ही इसमें धार्मिक तत्वों का समावेश है, इसलिए धर्म-निरपेक्षवाद को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म-निरपेक्षवाद को धर्म कहना एक स्व-व्याघाती कथन करना है। धर्म-निरपेक्षवाद में न तो धर्म का निषेध है और न ही व्याघात। धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा में जो निषेध है वह है धर्माश्रिता का जो धर्म की अब धारणा से विलकुल भिन्न अवधारणा है। धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा में धर्म का समावेश नहीं है, जो समावेश है वह है धर्म की स्वतन्त्रता का और ''धर्म की स्वतन्त्रता'' की

अवधारणा ''धर्म से स्वतन्त्र'' की अवधारणा से बिलकुल भिन्न अवधारणा। धर्म-निरपेक्षवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रभुता, प्रतिष्ठा और इहलौकिक सत्ता में विश्वास करता है और मानता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म के अपनाने, प्रचार और प्रसार करने के लिए स्वतन्त्र है। जो बात व्यक्ति विशेष के बारे में सत्य है वही समुदाय के बारे में भी सत्य है। धर्म-निरपेक्षवाद हर समुदाय को अपने धर्म का प्रचार, प्रसार, धार्मिक-कर्मों को करने और धार्मिक उत्सवों को मनाने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। किन्तु किसी भी व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय को किसी अन्य धर्म में हस्तक्षेप करने की अनुमति प्रदान नहीं करता है, जो यह सिद्ध करना है धार्मिक स्वतन्त्रता एक पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। धार्मिक स्वतन्त्रता एक सापेक्ष और सीमित स्वतन्त्रता है। धर्म-निरपेक्षवाद एक मानव जीवन-दर्शन है जिसमें धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र होकर तार्किक ढ़ंग से बुद्धि के द्वारा मानव जीवन की समस्याओं का समाधान ढूंढा जाता है और मानव कल्याण की बात सोची जाती है। धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र होकर तार्किक ढ़ंग से बुद्धि के द्वारा मानव जीवन की समस्याओं का हल ढूंढ़ना एक बात है और व्यक्ति एवं सम्प्रदाय को धार्मिक स्वतन्त्रता की छूट देना एक दूसरी बात है और दोनो बातों को एक दूसरे से मिश्रित नहीं करना चाहिए। धर्म और धर्म-निरपेक्षवाद में कोई तार्किक विरोध नहीं है क्योंकि धर्म-निरपेक्षवाद में जो निषेध है वह है धर्माश्रिता, का न कि धर्म और धार्मिक स्वतन्त्रता का। धर्म-निरपेक्षवाद धार्मिक स्वतन्त्रता पर नियंत्रण की बात भी मानता है। धर्म और धर्म-निरपेक्षवाद दोनो का सम्बन्ध मानवतावाद से है, किन्तु दोनो का आधार अलग-अलग है। धर्म का मानवतावाद अध्यात्मिकता पर आधारित मानवतावाद है जिसका स्रोत मनुष्य की अलौकिकता अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों अथवा सत्ताओं की आस्था में होता है बुद्धि में नहीं। जबकि धर्म-निरपेक्ष का मानवतावाद बुद्धि की भौतिकता पर आधारित मानवतावाद है जिसका स्रोत स्वयं मानव में ही है, मानव के बाहर नही। धर्म-निरपेक्षवाद मनुष्य की संप्रभुता को स्वीकार करता है और मानता हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है।

धर्म-निरपेक्षवाद की अवधारणा के विश्लेषण से इस प्रकार दो पक्ष उभर कर आते हैंः- निषेधात्मक और स्वीकारात्मक। निषेधात्मक रूप में धर्म-निरपेक्षवाद धर्म-सापेक्षता का निषेध करता है और शिक्षा देता है कि मानव-जीवन की समस्याओं के समाधान में धर्म की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए। जब हम देश की राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, प्रशासन और कानून आदि की बात करते हैं तो हमारा विचार किसी धर्म पर आश्रित नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव के जीवन से होता है न कि व्यक्ति अथवा समूह का। किसी देश की राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, प्रशासन और कानून आदि को किसी भी धर्म के ऊपर आधारित करना मानव-मानव में धर्म के आधार पर भेद करना है जो मानवता के विरूद्ध है और जो मानवता के विरूद्ध है वह अनुचित है। स्वीकारात्मक रूप में धर्म निरपेक्षवाद यह शिक्षा देता है कि प्रत्येक मनुष्य को तार्किक ढंग से बुद्धि के द्वारा अपने धर्म से ऊपर उङ्कर सार्वजनिक जीवन में सम्पूर्ण मानव के विकास और कल्याण की बात सोचनी चाहिए और अपने धर्म और दूसरे के धर्म के बारे में धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र होकर विचार करना चाहिए। मानवतावाद न केवल धर्मनिरपेक्षवाद का आधार है, बल्कि मानव में धर्म के प्रभाव से उन्मुक्त होकर मानवता की स्थापना करना उसका उद्देश्य भी है।

धर्म-निरपेक्ष नैतिकता धर्म-सापेक्ष नैतिकता से भिन्न नैतिकता है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता धार्मिक सिद्धान्तों एवं आस्थाओं पर आधारित नैतिकता नहीं है, और न ही उससे प्रत्युत्पन्न। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता मानवबुद्धि अथवा चेतना पर आधारित नैतिकता है जिसका सम्बन्ध मानव और मानव-समाज से है, किसी अलौकिक अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों अथवा सत्ताओं एवं धर्म ग्रन्थों

से नहीं। जबकि धर्म-सापेक्ष नैतिकता धार्मिक सिद्धान्तों एवं आस्थाओं पर आधारित नैतिकता है जिसका सम्बन्ध मानवतावाद से तो होता है किन्तु उनका स्रोत मानव और मानव-समाज से बाहर होता है उनमें नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म-निरपेक्ष नैतिकता और धार्मिक नैतिकता दोनों का सम्बन्ध मानव और मानवीय मूल्यों से होता है किन्तु दोनो का स्रोत और मानदण्ड अलग-अलग है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता में धर्म की कोई भूमिका नहीं होती है। धर्म-सापेक्ष नैतिकता में धर्म की आनिवार्य भूमिका होती है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता धर्म को नैतिकता पर आधारित करती है, जबकि धर्म-सापेक्ष नैतिकता नैतिकता को धर्म पर आधारित करती है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता में सम्पूर्ण मानव-कल्याण की बात धर्म से उन्मुक्त होकर सोची जाती है, जबकि धर्म-सापेक्ष नैतिकता में सम्पूर्ण मानव कल्याण की बात धर्म उन्मुक्त होकर नहीं सोची जाती है। चूँकि धर्म-निरपेक्ष नैतिकता में न तो धर्म का समावेश है और न ही धर्म के सिद्धान्त पर आधारित अवधारणा है इसलिए धर्म-निरपेक्ष नैतिकता को न तो धार्मिक नैतिकता कहा जा सकता है और न ही इसे धार्मिक नैतिकता। में पारिभाषित किया जा सकता है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता को सार्वभौम धर्म या मानव-धर्म भी नहीं कहा जा सकता है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकता को ''धर्म'' की संज्ञा देना भ्रम उत्पन्न करना है। धर्म में नैतिकता का समावेश होता है किन्तु नैतिकता में धर्म सामवेश नहीं होता है क्योंकि नैतिक व्यक्ति अधार्मिक व्यक्ति हो सकता है, जबकि धार्मिक व्यक्ति अनैतिक व्यक्ति नहीं हो सकता है, क्योंकि नैतिकता धर्म में निहित होता है।

स्पष्ट है कि धर्म-निरपेक्षवाद की जड़ आस्था में नहीं है। धर्म-निरपेक्ष की जड़ बुद्धि में है। धर्म-निरपेक्षवादी होने का अर्थ है धर्म का बिना समावेश किये हुए इहलौकिक मानव-जीवन की समस्याओं पर तार्किक ढंग से बुद्धि के द्वारा मानववादी नैतिकता के आधार पर विचार करना और उसके अनुसार मानव-कल्याण के लिए कार्य करना है। यह सिद्ध करता है कि धर्म-निरपेक्षता में अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और धार्मिक संकीर्णता का कोई स्थान नहीं है। जब यह कहा जाता है कि धर्म-निरपेक्षता में बौद्धिकता का समावेश है तो इसका मतलब अनाध्यात्मिक और अधार्मिक होना नहीं है। इसका मतलब है धर्म के प्रति हमारा दृष्टिकोण बौद्धिक और वैज्ञानिक होना चाहिए, धर्मान्ध नहीं। धर्म-निरपेक्षवाद धर्म के त्याग की शिक्षा नहीं देता है, अपितु अपने और दूसरे धर्म के प्रति तर्क संगत विचार करने की प्रेरणा देता है। जो लोग यह कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति धर्म-निरपेक्षवादी हो ही नहीं सकता है, वे धर्म को मनुष्य का स्वाभाविक और अनिवार्य गुण मानते है जिसके धर्म-निरपेक्षवाद धर्म-स्वतन्त्र होने की बात नहीं करता है। ''धर्म-निरपेक्ष'' में घटित ''धर्म'' शब्द का अर्थ एवं व्यक्ति के स्वाभाविक अनिवार्य गुण के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। ''धर्म'' शब्द का अर्थ यहाँ धार्मिक मान्यताओं और आस्था से है, न कि स्वभाव से। ''धर्म'' शब्द का अर्थ स्वभाव के रूप में ग्रहण करने से कोई भी व्यक्ति धर्म-निरपेक्षवादी हो ही नहीं सकता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव के विरूद्ध जा ही नहीं सकता है क्योंकि अपने स्वभाव के विरूद्ध जाने का मतलब होता है प्राकृतिक नियम का उलंघन जो कि हो ही नहीं सकता है। जब कोई व्यक्ति अपने स्वाभाविक अनिवार्य धर्म के विरूद्ध जा ही नहीं सकता है तो उससे स्वतन्त्र होने का प्रश्न ही नही उङ्गता है। धर्म-निरपेक्षवाद धर्म को आस्था का विषय मानता है और आस्था मनुष्य का व्यक्तिगत मामला है, सामाजिक जीवन का मामला नहीं है। धार्मिक-विवाद और धार्मिक संघर्ष सामाजिक जीवन में उत्तपन्न होता है, व्यक्तिगत जीवन में नहीं। चूँकि धार्मिक विवाद और धार्मिक संघर्ष सामाजिक जीवन में उत्तपन्न होता है और समाज अलग-अलग धर्मो में विभाजित है और धर्मो में भेद है इसलिए मानव समाज की स्थापना किसी धर्म पर करना, धर्म-निरपेक्षवाद के अनुसार, मानव-

मानव में धर्म के आधार पर भेद करना है, जो मानववाद के विपरीत है। धर्म-निरपेक्षवाद मानव की स्वतन्त्रता एवं नैतिक आदर्शो को महत्व देता है, और धार्मिक रूढ़वादिता, अन्धविश्वास धार्मिक संकीर्णता का विरोध करता है। धर्म निरपेक्षतावाद वैज्ञानिक ढंग से मानव-मानव को मानववादी नैतिकता के एक सूत्र में बाँधने की शिक्षा देता है। धर्म-निरपेक्षवाद में न तो धर्म का निषेध है और न ही धर्म का समावेश है, बल्कि इसके विपरीत है। इसके विपरीत यह धार्मिक-सहिष्णुता, सर्वधर्म सम्मान धार्मिक शान्ति, धार्मिक सहअस्तित्व, सर्वधर्म आदर और सम्मान भावनाओं को प्रोत्साहन देता है और मानता है कि धर्म का विकास और संरक्षण धर्म बाहुल्य प्रदेश में तभी संभव है जब धर्म नैतिकता पर आधारित हो, नैतिकता धर्म पर नहीं। धर्म-निरपेक्षता धर्मबहुलता की अनिवार्यता नहीं हैं। जब धर्म अलग-अलग है, उनमें भेद अनेक है लोग अलग-अलग धर्मों में बॅटे हैं, तो उनमें वाद-विवाद, मतभेद और संघर्ष होना स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति अपने धर्म को न केवल पवित्र मानता है, बल्कि उसको अपने जीवन का एक अनिवार्य अंग भी मानता है जिसको धर्म बहुलवादी लोग अपने निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी समय-समय पर इस्तेमाल करते रहते है। धार्मिक संघर्षो, साम्प्रदायिक दंगों और धार्मिक आतंकवाद से मुक्ति हम तभी प्राप्त कर सकते है जब हम धर्मो के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाएं और धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र होकर धर्मो के ऊपर तार्किक ढंग से विचार करें और मानव-कल्याण के हित में मानवता के दृष्टिकोण से उनका समाधान करें और उसके अनुसार आचरण करें।

सारांश में, हम इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आलोक में पाते हैं कि धर्म-निरपेक्षवाद में न तो धर्म का निषेध है और न ही प्रतिपादन। धर्म-निरपेक्षवाद स्वयं न तो कोई धर्म है और न ही धर्म पर आधारित सिद्धान्त। धर्म-निरपेक्षवाद धर्म से पूर्ण स्वतन्त्र एवं बौद्धिक चिन्तन है जिसका सम्बन्ध मानवतावाद से होता है। इसका सम्बन्ध धर्म, अध्यात्म और पन्थ से नहीं होता है। धर्म-निरपेक्षवाद व्यक्ति और पन्थ की धार्मिक स्वतन्त्रता में विश्वास करता है और धर्मो के सम्बन्ध को मानवतावादी नैतिकता पर आधारित करता है और धार्मिक सहिष्णुता, धार्मिक शान्ति, सह अस्तित्व, सर्व धर्म समभाव, सर्व धर्म आदर एवं समता पर बल देता है। धर्म-निरपेक्षता न केवल धर्म बहुलता की अनिवार्यता है, बल्कि मानवता की भी अनिवार्यता है। धर्म-निरपेक्षवाद न तो कोई ईश्वरवादी सिद्धान्त है और न ही अनीश्वरवादी। धर्म-निरपेक्षवाद एक नैतिक सिद्धान्त है जो धर्म को नैतिकता पर आधारित करता है, नैतिकता को धर्म पर नहीं। धर्म और धर्म-निरपेक्षवाद में कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों एक दूसरे को बहिष्कृत नहीं करते हैं। कोई भी व्यक्ति चाहे धार्मिक हो अथवा धार्मिक न हो धर्म-निरपेक्षवादी हो सकता है। धर्म-निरपेक्षता न तो सापेक्ष धर्म है और न ही निरपेक्ष (सार्वभौम) धर्म। धर्म-निरपेक्षवाद न केवल एक मानव जीवन दर्शन है, बल्कि एक जीवन पद्धति भी है जिसके द्वारा मानव-मानव को वैज्ञानिक ढंग से नैतिक सूत्र में बाँधा जाता है और उनके सर्वांगीण विकास एवं कल्याण की बात सोची जाती है। मानवतावाद न केवल धर्म-निरपेक्षवाद का आधार है। बल्कि मानव में मानवता की स्थापना करना इसका उद्देश्य भी है।

आधुनिकता की व्याख्याः एक प्रयास

प्रोफेसर अखिलेश्वर प्रसाद दुबे
दर्शन-विभाग
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

आधुनिकता, आधुनिकीकरण वर्तमान में ये शब्द बहु प्रचलित हैं। इन्हें लेकर सहज रूप से मन में यह कौतूहल उपजता है कि 'आधुनिकता' क्या है? क्या आधुनिकता फैशन है? क्या यह दिखावा है? क्या विज्ञान आधुनिकता है? क्या आध्यात्मिकता से परहेज आधुनिकता है? आदि। इसके साथ यह जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है कि आधुनिकता का इतिहास क्या है? क्या इसके कोई सार्वभौमिक मूल्य है? क्या इसका कोई मान्य ढांचा है? आधुनिकता फैशन नहीं, दिखावा नहीं, वह हमारी संस्कृति की शक्ति है। हमारी चेतना का प्रवाह और युग की जीवनधारा है। बिना आधुनिकता की अवधारणा के जीवन निस्पंद, निश्चेष्ट और गतिहीन बनकर रह जाता है। आधुनिकता अतीत का प्रक्षालन और चेतना का परिष्करण है।[1] पाश्चात्य चिंतकों ने परम्परा का परिवर्तित क्रम आधुनिकता माना है।[2] उपरोक्त प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान इन संक्षिप्त परिभाषाओं से नहीं हो सकता। इस अतिसंक्षिप्त, विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिकता का संबंध 'संस्कृति' और परम्पराओं से है। अतः संस्कृति को समझे बिना आधुनिकता के इतिहास और प्रक्रिया को नहीं जाना जा सकता।

II

'संस्कृति' शब्द की व्युपत्ति 'कृ' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से हुई है, जिसका अर्थ है - सम्यक् कृति या सम्यक् चेष्टा इसलिये कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है अर्थात् ''जिससे कृति का सौदर्य तथा दिव्यता अधिक स्पष्टता से प्रकट हो सके वही संस्कृति है।[3] 'संस्कृति' और 'परम्परा' में भेद है। परम्परा प्राचीनता या इतिहास से जुड़ी है। यद्यपि संस्कृति परम्परा भी हो सकती है। संस्कृत में ऐथिया (aithiya) शब्द परम्परा के लिये प्रयुक्त हुआ है। जिसका अर्थ है प्राचीन या ऐतिहासिक।[4] भारत में इतिहास को ज्ञान से द्वितीयक स्त्रोत के रूप में जाना जाता है। संभवतः ऐसा इसलिये माना जाता है, क्योंकि इतिहास मानव व्यवहार का विश्लेषण करने के लिये एक सामग्री प्रस्तुत करता है।

संस्कृति के दो प्रकार हो सकती हैंः व्यावहारिक/वास्तविक और आदर्श। वास्तविक अथवा व्यावहारिक संस्कृति वह है जो तत्कालीन समाज में प्रचलित होती है। आदर्श संस्कृति वह है जो यह निर्देशित करें कि समाज की आदर्श स्थिति क्या होना चाहिये? दोनों ही साथ-साथ विकसित होते है, यथा- एक पत्नी या एक पति प्रथा समाज की आदर्श स्थिति की द्योतक है, जबकि प्रचलन में बहुपत्नी या पति प्रथा भी स्वीकार्य है। अहिंसा भी सामाजिक आदर्श है किन्तु व्यवहार में हिंसा भी है। संस्कृति का अर्थ मन, विचार और कर्म की उच्चता है।[5]

संस्कृति तो एक बड़ी संस्था जैसी होती है, जिसमें प्रत्येक सदस्य का एक नियत स्थान होता है, जिसमें वह संस्था की मूल प्रवृत्ति के अनुरूप कार्य करता है । उसकी क्षमता का आकलन संस्था के कार्य व्यापार में उसके योगदान से किया जाता है । दूसरी ओर संस्कृति विहीन काल में शक्तियां छिन्न -भिन्न हो जाती है और व्यक्ति की ऊर्जा विरोधी और प्रतिरोधी शक्तियों पर नियंत्रण के प्रयास में ही प्रदर्शित होती है। भले ही वर्तमान में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति किसी महान सांस्कृतिक कृति के विकास में संलग्न दिखे या भले ही हमें ऐसी भीड़ दिखाई दे जिसमें सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति किसी अपने निजी कार्यो में लगे हो, तब भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि दृश्यमान ही महत्वपूर्ण नहीं होता। स्पष्ट

करना चाहता हूँ कि किसी संस्कृति का लोप मानवीय मूल्य के लोप का संकेत नहीं देता अपितु, वह तो उन मूल्यों को अभिव्यक्त करने के विशिष्ठ साधनों के लोप होने का संकेत देता है। मूल्यों के लुप्तीकरण की प्रक्रिया और इनसे जन्में यूरोपीय आधुनिकरण पर कटाक्ष करते हुए विट्गिन्स्टाइन का यह कथन महत्वपूर्ण है - आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के साथ न तो मेरी कोई सहानुभूति है और न ही मुझे इसके लक्ष्य यदि कोई है, तो समझ में आते हैं।[6]

III

'प्रगति' शब्द भी आधुनिकता से जुड़ा हुआ है। सामान्यतः प्रगति 'विकास' की द्योतक है। प्रगति शब्द हमारी सभ्यता का अभिलक्षक है। प्रगति सभ्यता का रूप है, प्रगति करना इसकी कोई विशेषता नहीं है यह (सभ्यता) तो सदैव निर्माण ही करती है, अधिकाधिक जटिल संरचनाओं के निर्माण में यह निरंतर लगी रहती है, और इससे परिलक्षित परिवर्तन प्रगति के द्योतक हैं।

'परिवर्तन' प्रत्येक युग में आता है किन्तु प्रत्येक युग में प्रत्येक परिवर्तन नवीनता सकारात्मक आधुनिकता का प्रतीक हो यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह नकारात्मक परिवर्तन भी हो सकता है। जैसे किसी युग में नवीनता की चकाचौंध में तरूणाई आकर्षित होती है वह इस बात से अनभिज्ञ है, कि यह चकाचौंध जो उसे परिवर्तन के रूप में दिखाई दे रही है, उसे किस दिशा में ले जावेगी। परिणामतः वह भटक जाती है। तब बुर्जुग पीढ़ी को यह लगने लगता है कि हमारी संस्कृति विनष्ट हो रही है। भ्रम तब होता है जब हम परिवर्तन के जोश में नवीनता का गलत अर्थ ले लेते है। आद्युनिकता इसे नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आधुनिकता बाह्य का प्रसार नहीं वरन् अन्तः की समृद्धि है, अभिव्यक्ति है। प्रगति के नाम पर अपनी संवेदना को खो देना विकास नहीं गति का भ्रम है। जब संस्कृति को आडंबर और परम्पराओं को रूढ़ि मानने लगते है, तब एक पीढ़ी जो अतीत को स्पंदित करती रही है और उस अतीत को वर्तमान में ढालने की चेष्टा कर रही थी, वह चुपचाप नेपथ्य में चली जाती है। यह परिवर्तन है प्रगति नहीं।

IV

'संस्कृति' के समान 'आधुनिकता' शब्द भी बहु आयामी है। एक अर्थ में यह सांस्कृतिक मतभेदों को निस्तेज करने के रूप में प्रयुक्त होता है। वहीं दूसरी ओर अन्य अर्थ में यह स्वयं नयी संस्कृति विकसित करता है। कहा जा सकता है कि आधुनिकता प्रत्येक काल में एक भिन्न संस्कृति को उपजाति है। दरअसल आधुनिकता केवल वर्तमान के दिखावे को ओढ़ने का उपक्रम नहीं है। आधुनिकता जीवन की अवधारणा है, यह भारतीय परिवेश में यदि कहे तो, नया केवल कोई भी परिवर्तन नहीं बल्कि चली आ रही मान्यताओं को स्वीकार कर उनका प्रक्षालन करते हुए अपनी क्षमता और विश्वास में नवोन्मेष करना होता है। यह नवोन्मेष ही आधुनिकता ही अवधारणा की पूर्वपीठिका होता है। आधुनिकता को सामान्यतः उत्तर परम्परावाद या उत्तर मध्ययुगीन ऐतिहासिक परम्परा के विकसित रूप में जाना जाता है। यह जूडावाद (सामंतशाही), पूँजीवाद, औद्योयोगिकीकरण, धर्मनिरपेक्षता, बुद्धिवाद, राष्ट्र-राज्य की ओर विकास की अवस्था है।[7] सिद्धान्ततः आधुनिकता का संबंध, आधुनिक युग से लगाया जाता है, किन्तु विशेष अर्थ में आधुनिकता ने पाश्चात्य दर्शन में एक विशिष्ट और नया आन्दोलन आधुनिक दर्शन के रूप में खड़ा किया। आधुनिकता का सीधा संबंध सामाजिक संबंधों से है जो कि पूँजीवाद के उदय से जुड़ा है। आधुनिकता को प्रबुद्ध संस्कृति, विशेषकर धर्मनिरपेक्षता और उत्तर औद्योगिक जीवनः मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद और नवसमाज व्यवस्था के संघर्ष में भी प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् आधुनिकता का सह संबंध प्रबुद्ध एवं सांस्कृतिक आंदोलन से है जो 1436-1789 से प्रारंभ मानते है और आधुनिकता को 1970 के बाद तक मान सकते हैं।[8]

आधुनिकता को अध्ययन की दृष्टि से तीन काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है -

- पूर्व आधुनिकता 1500-1789
- शास्त्रीय (Cassical) आधुनिकता 1789-1900
- उत्तर (Lale) आधुनिकता 1900-1989 और उसके बाद[9]

आधुनिकता को अंतिम रूप से परिभाषित करना कठिन है तथापि भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से आधुनिकता के विभिन्न आयामों में से आधुनिकता से संबंधित कुछ प्रमुख बिन्दुओं द्वारा इसके स्वरूप को जानने का प्रयास किया जा सकता है। प्रथमतः भारतीय दृष्टि में -दर्शन में दो शब्द प्रयुक्त हुए है 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' जो भरे पूरे जीवन की सार्थकता और मर्यादा में संतुलन स्थापित करते है (वैसे तो निःश्रेयष का अर्थ तो मुक्ति है)। अभ्युदय पूर्ववर्ती है जिसे पूर्व आधुनिकता कहा जा सकता है। यह निःश्रेयस (या आधुनिकता) का आश्रय भी है। यह निःश्रेयस से कभी कटकर नहीं रहता। अभ्युदय सुख है और निःश्रेयस उसकी उत्कृष्ठ स्थिति।

आधुनिकता के सर्वमान्य अनेक बिन्दुओं में से कुछ इस प्रकार हैं-

1. विज्ञान - आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण घटक है। यह अपने प्रयोगों और प्रक्रिया से नवीन एवं प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध कराता है। यह ऐसी नवीन तकनीक विकसित करता है जिससे उत्पादन बढता है और परिणामतः औद्योगिक क्रांति विकसित होती है।
2. तर्क बुद्धि (प्रज्ञा) - यह आध्यात्मिकता और आधुनिकता के बीच विभाजन रेखा खीचती है और यह स्पष्ट करती है कि सब कुछश्ईश्वरकृत नहीं है जैसा काण्ट ने कहा - मनुष्य स्वयं अपने कर्मो का निर्धारक है।
3. विकास की अवधारणा - आधुनिकता की परियोजना इस बात पर भी आधारित है कि विज्ञान और तार्किक सोच की सहायता से मानव कुछ हद तक प्रकृति पर नियंत्रण कर सकता है। उसके फलस्वरूप एक नयी समाज व्यवस्था बन सकेगी जिससे सद्भावपूर्ण और प्रगतिशील भविष्य प्राप्त हो सके।
4. मानव संस्था - प्राच्य आधुनिकता में आध्यात्मिक शक्ति को ही नियंता माना जाता था, जिसके कार्यकलापों में मानव हस्तक्षेप नहीं था। आधुनिकता में मनुष्य अपने भाग्य निर्माण के लिये स्वतंत्र है। इसमें कहीं विरोध हो सकता है किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता है।
5. धर्म/पंथ निरपेक्षता - यह आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति किसी विशेष पंथ को मानने के लिये मजबूर नहीं है। व्यक्ति अपने स्तर पर धर्म अपनाने के लिये तो स्वतंत्र है किन्तु राज्य व सरकार के स्तर पर धर्म को कोई स्थान नहीं है। दूसरा अर्थ यह लिया जा सकता है कि संस्कृति के नाम पर धार्मिक सहिष्णुता आधुनिकता का भावार्थ है।
6. निजी एवं सरकारी क्षेत्रों का पृथक्करण - यह आधुनिकता का प्रमुख बिन्दु है जिसमें निजी क्षेत्रों को सरकार से मुक्त रखा गया है। साथ ही निजता का सरकारी तौर पर विधि मान्य संरक्षण भी होता है एवं व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जाती है।
7. स्वतंत्रता, न्याय और समानता- स्वतंत्रता दो प्रकार की है, निषेधात्मक और भावनात्मक। निषेधात्मक अर्थ में स्वतंत्रता का अर्थ कार्य संपादन की प्रक्रिया में बाहरी अवरोधी का अभाव है। भावनात्मक अर्थ में स्वतंत्रता का अर्थ कर्त्ता की वह शक्ति है जिसके अनुसार वह कार्य कर सके।
8. न्याय - प्लेटो का कहना है कि वह राज्य पूर्ण है जिसमें न्याय है।[10] न्याय- विवेक, सत्य और संयम तीन गुणों का समन्वय है। न्याय का अर्थ दूसरों के अधिकारों की रक्षा से भी लिया

जाता है। वैसे तो यह सामाजिक आदर्श है किंतु इसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति के माध्यम से होती है। इस प्रकार यह सामाजिक न्याय आधुनिकता का लक्षण है।

समता या समानता (Equality) - लिंग, जाति, धर्म, वर्ण के आधार पर भेदभाव नहीं होना समानता है। समाज में प्रत्येक को कार्य करने और उन्नति के लिये हर क्षेत्र में समान अवसर मिलना चाहिये यह समता है और आधुनिकता की विशेषता है। ये सभी आधुनिकता से संबंधित प्रमुख मूल्य है, किन्तु आधुनिकता केवल इतने ही मूल्य धारण नहीं करती है। यह तथ्य बतलाता है कि आधुनिकता के विभिन्न माडल जानने के लिये हमारी कुछ सीमाएं है फिर भी यदि हम पूर्व आधुनिकता और वर्तमान आधुनिकता की तुलना करें तो इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि मूल्यों की यूरोप की राजनैतिक और सांस्कृतिक क्रांति में अहम् भूमिका रही है। आधुनिकता के उपरोक्त प्रमुख मूल्यों के विश्लेषणोंपरांत यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता के तीन प्रकार (मॉडल) हमारे सामने आते हैं - पूँजीवादी, समाजवादी एवं उत्तर-उपनिवेशवादी आधुनिकता। ये सभी पश्चिम से जुड़े हैं और इस बात का उत्तर नहीं दिया जा सकता है कि क्यों आधुनिकता पहले पश्चिम में आयी। फिर भी हम कुछ अपेक्षित कारण जानने का प्रयास करेंगे। प्रथम- आधुनिकता और पूँजीवाद दोनों साथ-साथ आये हैं और यह प्रथमतः पश्चिम में हुआ। पूँजीवाद की दो विरोधाभासी विशेषताएं हैं। एक तरफ पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम का शोषण जैसी बुराई स्थायी है, वही दूसरी ओर समानता, सद्भाव और स्वतंत्रता जैसे गुण भी स्थाई है। ये विरोधाभास पूँजीवाद के असली रूप को ढांक कर आधुनिकता के साथ इसके संबंध केा लेकर गलतफहमी पैदा करते है।

द्वितीय - आधुनिक विज्ञान और दर्शन तीव्र विकास के साथ साथ यूरोपीयन आधुनिकता का नवीन सामाजिक संस्करण विकसित हुआ। आधुनिक दर्शन के कारण यह संभावना विकसित हुई कि मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण रख सकता है और इसी ने नवजाग्रति एवं समाजवादी व्यवस्था उत्पन्न कर समाज को नयी वर्ग व्यवस्था दी।

तृतीय - सर्वप्रथम यूरोप और फिर उत्तरी अमेरिका में आधुनिक विज्ञान और पूंजीवाद के मेल से औद्योगिक क्रांति सम्भव हुई, जिसका परिणाम अभूतपूर्व भौतिकता के सद्भाव के रूप में प्रकट हुआ।

उपरोक्त तथ्य पूँजीवादी आधुनिकता को आधुनिकता का एकमात्र मॉडल बतलाते हुए आधुनिकता को एक नवयुग के उदय का सूत्रपात होने की ओर इशारा करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस आधुनिकता की तुलना उस मध्य युग की सांमतशाही व्यवस्था से की जाय तो (जिसमें व्यक्ति जमीदारों से अपनी जमीन वापसी के लिए संघर्षरत थे) स्थिति कही अधिक सुखद है। उस युग में उत्पादन कम था और व्यक्ति मजबूरी वश अभाव व दरिद्रता में गुजर बसर कर रहा था।

मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था का कठोर विरोधी था। मार्क्स ने पूँजीवाद को समाप्त कर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित की और साम्यवाद/समाजवाद आधुनिकता का प्रतीक लगने लगा। समाजवादी व्यवस्था आगे चलकर क्यों असफल हुई यह जानना शोधपत्र का उद्देश्य नहीं है किन्तु विषय की प्रासंगिकता के लिये एक कारण का विश्लेषण आवश्यक है। समाजवादी आधुनिकता का माडल पूँजीवादी माडल का स्थान ले सकता था, किंतु समाजवादी क्रांति उन स्थानों में संभव हुई जिन्हें पूर्व आधुनिक समाज कहा जाता है ।इन समाजों में पूर्व आधुनिकता से आपसी संघर्ष में अत्यधिक ऊर्जा बर्बाद हुई जो समाजवादी व्यवस्था के असफलता का करण बनी। अधिकांशतः तीसरे विश्व के देश तीसरी अवस्था अर्थात् उत्तर उपनिवेशवादी आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करते है। ये देश अपने साथ उन पूर्व मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ते है जिन पर प्रश्न चिन्ह लगाए जा सकते हैं। अभी तक वे धीमे किन्तु निश्चित रूप से आधुनिकता की ओर अपने कदम बढ़ा रहे हैं। यह कह सकते हैं कि वे

आधुनिकता का अपना स्वयं का संस्करण तैयार कर रहे है जो कि पूर्वोल्लिखित दोनों संस्करणों से भिन्न है। इनमें जटिलता और रूकावट का कारण यह है कि यहाँ आधुनिकता पहली बार उपनिवेशता के साथ प्रांरभ हुई है जो स्वयं में आधुनिकता के लिये नकारात्मकता पैदा करती है। किंतु पूँजीवाद अपने फैलाव के लिये उपनिवेशवाद का उपयोग करता है। आधुनिकता का एक अन्य स्त्रोत राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष और संप्रभु राज्य के गिर्द उत्पन्न होता है। किंतु यहाँ भी आधुनिकता के सूत्र पूर्व आधुनिकता या आधुनिकता विरोधी सूत्रों से घुल मिल गये है जैसे कि हमारे देश में ही स्वतंत्रता के लिये संघर्ष के दौरान कम से कम चार दृष्टिकोण देखने को मिलते है। गांधी, हेडगेवार, नेहरू, अंबेडकर। हम आज भी इन्हीं पूर्व दृष्टिकोणों के साथ आगे बढ़ रहे है और यह नहीं कह सकते कि इनमें से कोई एक दृष्टि विजेता है और अन्य का पराभव है। इस कारण से आधुनिकता की प्रक्रिया विरोधाभासों से परिपूर्ण है। एक तरफ जहाँ हम उदारता और आर्थिकता व बाजारवाद को अपनाए हुए है जो विश्व अर्थव्यवस्था के साथ तालमेल कर रही है। वही दूसरी ओर सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखने के नाम पर छोटी छोटी जातीय संकीर्णताओं को पनपता हुआ देख रहे। इन विरोधभास से हम इनकी उत्पत्ति के पिछले संदर्भों से समझने का प्रयास करें। यूरोप में आधुनिकता औपनिवेशिक राज्यों के विस्तार के साथ हुई जबकि उपनिवेषों में यह (colonies) या औपनिवेशता के विरुद्ध संघर्ष के रूप में हुई। यद्यपि वैश्विक आधुनिकता के मूल्य समानता, स्वंत्रता, प्रजातंत्र व्यवस्था, धर्म निरपेक्षता और गैर सांप्रदायिकता आदि दोनों औनिवेशिक राज्यों और उनके उपनिवेश दोनों में समान रूप से पाये जाते है। जबकि इनका आधुनिकता का आंतरिक पक्ष अलग अलग है। इसका कारण एक अपने उपनिवेश का और अधिक विस्तार करने की नीति बनाता है जो उसकी आधुनिकता की सोच को एक अलग रूप में प्रस्तुत करता है, दूसरा उपनिवेश के विरूद्ध आवाज उठाता है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता को किसी एक निश्चित मापदण्ड और साँचे में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यूरोपीय आधुनिकता जहाँ रूढ़ियों, गैर सांप्रदायिकता और धर्म निरपेक्षता के मूल्यों के साथ आधुनिक कही जा सकती है, तो वे देश जो उत्तर उपनिवेशिकता के दौर में है वे अपनी मूल सांस्कृतिक मान्यताओं के साथ वर्तमान आधुनिकता के मूल्यों को धारण करके भी वे आधुनिक है क्योंकि आधुनिकता के सार्वभौमिक वैश्विक मूल्य स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा, विवेकशीलता आदि को वे धारण किये हैं। जबकि प्रत्येक देश की भौगोलिक संरचना और परिस्थितियॉं व परम्पराएँ भिन्न-भिन्न हैं जिन्हें अनदेखा करके आधुनिक बनना संभव नहीं है। यूरोप, चीन, जापान, भारत इसका उदाहरण हैं। हां यह अवश्य है कि समयानुसार परम्पराओं और सांस्कृतिक ताने बाने पर पुनर्विचार करते हुए उनमें संशोधन वैश्विक स्तर पर आधुनिकता से कदम मिलाना आवश्यक है और जो होता भी रहता है। फिर भी कुछ ऐसे उदाहरण है जो अपनी सांस्कृतिक पहचान को लेकर अपने एक बनाये हुए माडल से बाहर नहीं निकलना चाहते। वे आधुनिकता को अपने पहचान के लिए रोडा मानते है।

बहरहाल यह कह सकते हैं कि केवल पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण ही आधुनिकीकरण का प्रतीक नहीं है और निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान वैश्वीकरण (आधुनिकता) आधुनिकता के इतिहास का अंत नहीं है, न ही यह सभ्यताओं की टकराहट है। वरन् यह आधुनिकता के सांस्कृतिक कार्यक्रम की निरंतर चलने वाली पुर्नव्याख्या है। यह बहुआयामी आधुनिकता का निर्माण है। मेरा यह प्रयास आधुनिकता के संप्रत्यय की पुर्नव्याख्या करना है।

संदर्भः

1. Modernity and the problem of cultural identily p. 199-200, Edited by A.P. Dubey
2. वही पृ. 146
3. वही पृ. 199
4. वही पृ. 08
5. वहीं प्रो. अशोक वोहरा का लेख पृ 09
6. कल्चर एंड बैल्यू अशोक वोहरा पृ. 9 अ प्रका. भा. दा. अ.प. नई दिल्ली
7. वार्कर 444, 2005 From Internet
8. टूलमिन 1992 3-5 Internet
9. Encyclopaedia of Modernity by internet
10. नीति दर्शन की रूपरेखा, रतनदेव पृ.49

नोटः राष्ट्रीय संगोष्ठी, जोधपुर में प्रस्तुत।

सर्वोदय-दर्शनः एक विमर्श

प्रोफेसर ऋषि कान्त पाण्डेय
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वोदय न तो कोई सम्प्रत्यय है और न ही कोई वाद। वस्तुतः यह विश्व धर्म का अरूणोदय तथा प्राणी-मात्र का अंत्योदय है। यह सामाजिक आदर्श की एक ऐसी अवधारणा है जो पूँजीवादी एवं साम्यवादी दोनों ही अवधारणाओं से सर्वथा असम्पृक्त है, क्योंकि ये दोनों ही अवधारणाएँ डार्विन के वर्ग-संघर्ष (Class-struggle) पर आधृत हैं। जहाँ एक ओर पूँजीवाद श्रमिकों का शोषण कर पूँजीपतियों के हितों का संरक्षण करता है वहीं दूसरी ओर साम्यवाद पूँजीपतियों को आमूल विनष्ट करके श्रमिकों के हितों की रक्षा करने का दावा करता है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही अवधारणाएँ शोषण पर आधृत हैं। सर्वोदय शोषण, घृणा, हिंसा एवं विद्वेष पर आधृत न होकर परस्पर प्रेम, त्याग, सह-अस्तित्व, सहजीवन एवं सहयोग पर आधारित सिद्धान्त है।

सर्वोदय के समतुल्य अवधारणा पाश्चात्य दर्शन में भी यदा-कदा देखने को मिलती हैं, जो संघर्ष पर आधृत न होकर परस्पर सहयोग एवं सह-जीवन की बात करती है, उदाहरणार्थ- एशले मॉटेग्यू ने अपनी पुस्तक "On BeingHuman" में लिखते हैं कि संघर्ष की होड़ नहीं, बल्कि सहयोग ही प्रकृति का सिद्धान्त है। उनके अनुसार ''सहयोग का सिद्धांत उत्तरजीविता के रूप में व्यक्तियों की ही भाँति पाशविक समूहों में भी एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में स्थापित हो गया है।'' (The principle of cooperation is in a fair way to becoming established as a most important factor in the survival of animal groups as of individuals.")।[1] इसी प्रकार डब्लू0 एम0 ह्वीलर अपनी पुस्तक "The Social Life of the Insects" में लिखते हैं कि प्रकृति में सबसे सबल प्रवृत्ति सह-जीवन एवं सहयोग की पायी जाती है। ''अधिकांश प्राणी एवं पौधे कमोबेश किसी समूह अथवा संस्था के एक सहयोगी सदस्य के रूप में ही रहते हैं।'' ("Most animals and plants live.....more or less cooperative members of groups or associations.")।[2]

सर्वोदय भी परस्पर सहयोग पर आधृत एक ऐसी अवधारणा है जो सभी के समग्र विकास की बात करती है। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ हैः सबका उदय/सबका उत्कर्ष/सबका विकास। सर्वोदय दो शब्दों से मिलकर बना है : सर्व एवं उदय। सर्व के दो अर्थ होते हैं : संकुचित एवं व्यापक अर्थ। अपने संकुचित अर्थ में यह केवल मानव कल्याण तक सिमट कर रह जाता है, परन्तु व्यापक अर्थ में यह सृष्टि के समस्त प्राणियों को अपने आप में समाहित करता है। इसी प्रकार उदय के भी दो अर्थ हैं : संकुचित एवं व्यापक अर्थ। संकुचित अर्थ में यह केवल भौतिक विकास की ही बात करता है जबकि व्यापक अर्थ में यह भौतिक विकास के साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष को भी अपने आप में समाहित करता है। इस प्रकार सर्वोदय अपने संकुचित अर्थ में मनुष्य मात्र के भौतिक विकास की बात करता है, परन्तु अपने व्यापक अर्थ में यह ''समस्त प्राणियों के समग्र विकास'' (The holistic development of all creatures) की बात करता है।

आचार्य विनोबा भावे लिखते हैं कि ''एक सादी बात हम समझ लेंगे तो सबका हित सधेगा। हर एक दूसरे की फिक्र रखे, साथ में अपनी फिक्र ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। इसी को सर्वोदय कहते हैं।''[3] इस संदर्भ में प्रसिद्ध रसियन वैज्ञानिक एवं क्रांतिकारी चिंतक प्रिंस

पीटर क्रोपोट्कीन का यह कहना ठीक ही है कि ''यह एक अचेतन मन की मान्यता है कि न्याय एवं समता के दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति की प्रसन्नता अन्य व्यक्तियों की प्रसन्नता पर अधिक निर्भर करती है, जो यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि किसी भी अन्य व्यक्ति का अधिकार उसके अपने अधिकार के ही समतुल्य है।'' (It is the unconscious recognition ... close dependency of every one's happiness upon the happiness of all; and of the sense of justice, or equality, which brings the individual to consider the rights of every other individual as equal to his own.")।[4] यदि व्यक्ति के अंदर यह अवधारणा विकसित होगी तभी सर्वोदय की संकल्पना को साकार किया जा सकता है।

सर्वोदय की यह अवधारणा कोई नूतन अवधारणा नहीं है, प्रत्युत् यह एक प्राचीन अवधारणा है, जिसका मूल उपनिषदों में देखा जा सकता है। हजारों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों ने बिना किसी घृणा एवं विद्वेष के अपने एवं पराये के भेद से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानते हुए (**अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतषाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।**)[5] सभी प्राणियों के सुखी होने, निरोग होने तथा उसके कल्याण की कामना करते हुए यह याचना की है किः

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्व भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।[6]

इसी प्रकार जैन आचार्य समंत भद्र ने भी कहा है कि ''सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव''[7]।

वर्तमान काल में गाँधी जी ने जॉन रस्किन की पुस्तक "Unto This Last" से प्रेरणा प्राप्त की, जिसे हेनरी पोलक ने जोहान्सबर्ग रेलवे स्टेशन पर उन्हें यह कह कर दी कि 'यह पुस्तक रास्ते में पढ़ने लायक है।' इस पुस्तक ने गाँधी जी के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। वे अपनी आत्म-कथा में लिखते हैं कि ''इसे हाथ में लेने के उपर्यन्त मैं छोड़ न सका। इसने मुझे जकड़ लिया। ट्रेन शाम को डरबन पहुँची। सारी रात मुझे नींद नहीं आयी। पुस्तक में दिये गये आदर्शों के साँचे में जीवन को ढालने का मैंने निश्चय कर लिया। जिस पुस्तक ने मुझपर तत्काल असर डाला और मुझमें महत्त्वपूर्ण ठोस परिवर्तन किया, ऐसी तो यही एक पुस्तक है।''[8] पुनश्च, वे लिखते हैं कि ''मेरा विश्वास है कि मेरे हृदय के गहनतम प्रदेश में जो भावनाएँ छिपी पड़ी थीं, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रंथरत्न में देखा और इसलिए उन्होंने मुझे अभिभूत कर जीवन परिवर्तित करने के लिए बाध्य कर दिया।''[9]

जॉन रस्किन की यह पुस्तक एक बाइबिल की कहानी पर आधारित है। इस कहानी में एक अंगूर के मालिक ने कुछ मजदूरों को सुबह इस शर्त्त पर काम पर लगाया कि प्रत्येक को शाम को एक पेनी दी जायेगी। पुनः दोपहर और तीसरे पहर कुछ मजदूर काम पर आये और जब मालिक ने उन्हें देखा तो उन्हें भी उसी काम पर लगा लिया। शाम को सभी को एक पेनी देकर विदा किया गया। इस पर सबेरे आने वाले मजदूरों में असन्तोष की भावना व्याप्त हो गई कि जो शाम को आये और केवल एक घण्टा काम किया उन्हें भी एक पेनी और हम लोग सुबह से ही दिनभर धूप में काम किये तो हमें भी एक ही पेनी। यह एक प्रकार का अन्याय है। इस पर मालिक ने कहा कि ''भाई मेरे, मैंने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय नहीं किया है। तुमने एक पेनी रोज पर काम करना मंजूर किया था न? तब अपनी मजदूरी लो और घर जाओ। मेरी बात मुझ पर छोड़ो। मैं अन्तवाले को भी उतनी ही मजदूरी दूँगा, जितनी तुम्हें। अपनी चीज अपनी इच्छा के अनुसार खर्च करने का मुझे अधिकार है न? यदि मैं किसी के प्रति अच्छा व्यवहार करता हूँ, तो इसका तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है?''

(Friend, I do thee no wrong : didst not thou agree with me for a penny? Take that thine is, and go thy way : .....I will give unto this last even as unto thee. Is it not lawful for me to do what I will with mine own? Is thine eye evil, because I am good?)[10]। इस पर अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कृष्ण दत्त भट्ट ने दादा धर्माधिकारी द्वारा रचित पुस्तक ''सर्वोदय-दर्शन'' की 'प्रस्तावना' में लिखते हैं कि ''सुबह वाले को जितना, शाम वाले को भी उतना - यह बात सुनने में अटपटी भले लगे,...परन्तु इसमें मानवता का, समानता का, अद्वैत का वह तत्त्व समाया हुआ है, जिस पर 'सर्वोदय' का विशाल प्रासाद खड़ा है।''[11]

उल्लेखनीय है कि जॉन रस्किन की पुस्तक "Unto This Last" से ही प्रेरणा लेकर गाँधी जी ने इसका नाम सर्वोदय (Well being for all) रखा। "Unto This Last" का अर्थ ही होता है ''इस अंत वाले को भी''[12]। रस्किन ने अपनी पुस्तक में प्रमुखतः तीन बातों पर बल दिया हैः

- व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में निहित है।
- वकील का काम हो, चाहे मोची का, दोनों का मूल्य समान है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय के द्वारा ही अपनी जीविका को चलाने का समान अधिकार है।
- शारीरिक श्रम करने वाले का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट है।

स्पष्टतः इसमें पहली बात में ही दूसरी तथा तीसरी बात निहित है। इस प्रकार सबका हित एवं सबका उदय अपेक्षित है। इसी आधार पर गाँधी जी ने जिस सामाजिक आदर्श का विचार प्रस्तुत किया, उसे उन्होंने सर्वोदय कहा है। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य दर्शन में जे0एस0 मिल तथा जेरमी बेंथम ने ''अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख'' (The greatest happiness for the greatest number) का आदर्श सामने रखा। सर्वोदय का सिद्धान्त उपयोगितावादियों की इस अवधारणा से कई मान्यताओं में पूर्णतया पृथक् है।

- उपयोगितावादी जहाँ अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की बात करते हैं वहीं सर्वोदय सिद्धांत सभी के समग्र विकास की कामना करता है।
- उपयोगितावादियों का अधिकतम केवल संख्यात्मक है जबकि सर्वोदय का 'सर्व' केवल संख्यात्मक नहीं है बल्कि गुणात्मक भी है। यह सर्वांगीण विकास का विचार है। सबका विकास तो हो ही परन्तु सभी का सभी प्रकार से विकास ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास है।
- अधिकतम के सिद्धान्त का परिपोषक अन्य के लिए अपने स्वार्थ की बलि नहीं चढ़ा सकता, परन्तु सर्वहित के आदर्श में जिसकी निष्ठा है, वह अन्य के लिए अपने स्वार्थ को कुचल देने में संकोच नहीं करेगा अर्थात् वह अन्य के लिए आत्म-बलिदान तक के लिए तत्पर रहता है।

हेगेल की ''जीने के लिए मरो'' (Die to live) वाली युक्ति में भी अपनी आहुति अपने जीने के लिए मानी गई है। इसी प्रकार हक्सले की उक्ति ''जिओ और जीने दो'' (Live and let live) है। दादा धर्माधिकारी लिखते हैं कि सर्वोदय का आदर्श इससे भी व्यापक है। इसके अनुसार ''**तुम जिलाने के लिए जिओ।** मैं जब दूसरों को जिलाने के लिए जिऊँ और दूसरा मुझे जिलाने के लिए जिये, तब सबका जीवन सम्पन्न होगा और जिलाने के लिए जिओ चरितार्थ होगा। यही सर्वोदय है।''[13]

सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत और उसकी नीति है समन्वय की। सर्वोदय के विचार का मूल आधार हैः गाँधी जी का ईश्वर तथा आत्मा के सम्बन्ध में विचार। इसके अनुसार ईश्वर ही परम सत्ता है। विश्व ईश्वर का व्यक्त रूप है। वही जगत् के प्रत्येक मनुष्य, प्राणी तथा वस्तु में निहित है। अतः शारीरिक रूप से भिन्न होते हुए भी सभी प्राणी चेतना के स्तर पर समान हैं। इस प्रकार जगत् के प्रत्येक प्राणी समान हैं। सभी ईश्वरमय हैंः

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।[14]

यहाँ पर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का मूल अभिप्राय यह है कि 'त्यागपूर्वक ग्रहण करो' (Attachment with disinterest) अर्थात् ग्रहण तो करें, परन्तु त्याग के साथ। 'त्यागपूर्वक ग्रहण' के निम्नलिखित सम्भावित अर्थ हो सकते हैंः (1) इस संसार में कुछ भी अपना नहीं है। जो कुछ भी है वह या तो ईश्वर प्रदत्त है या फिर प्रकृति प्रदत्त। अस्तु, आसक्ति कैसी? ऐसी स्थिति में जीव अनुभव करता है कि सब कुछ अपना होते हुए भी वस्तुतः कुछ भी अपना नहीं है। इस प्रकार जीव भोग तो करता है, परन्तु उसके प्रति आसक्ति का भाव नहीं रखता है। (2) जब जगत् के सारे प्राणियों में ईश्वर ही अंतर्व्याप्त है तब यह कैसे हो सकता है कि कुछ लोग तो खाते-खाते मरें और कुछ बिना खाये मरें। अस्तु, हमें किसी भी चीज का भोग करते समय दूसरों के हितों को भी ध्यान में रखना चाहिए। यही सम्पोष्य विकास है, जिसकी उद्गम स्थली उपनिषद् ही है। (3) 'त्यागपूर्वक ग्रहण' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि कर्म करते हुए भी उससे प्राप्त होने वाले फल के प्रति अनासक्ति। इसे ही अपरिग्रह कहा गया है, जो सर्वोदय का मूल है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। यहाँ पर आवश्यकता को परिभाषित करना कठिन है, क्योंकि सभी व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। ऐसी परिस्थिति में आवश्यकता को निर्धारित करने के लिए कोई वस्तुनिष्ठ मानदण्ड कैसे प्रदान किया जा सकता है? उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने आवश्यकता को भी वस्तुनिष्ठ रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार आवश्यकता का अर्थ है कि *समाज के सबसे निर्धन व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए जितना आवश्यक है वही हमारी भी आवश्यकता का मानदण्ड है। इस प्रकार त्यागपूर्वक जीवन के बिना सर्वोदय के आदर्श की प्राप्ति सम्भव नहीं है।*

वस्तुतः उपभोग एवं दुःख एक दूसरे के समानुपाती होते हैं। जैसे-जैसे हमारा उपभोग बढ़ता है उसी अनुपात में दुःख भी बढ़ता है। ''अधिकतम उपभोग, अधिकतम दुःख तथा न्यूनतम उपभोग, न्यूनतम दुःख'' (Maximum consumption, maximum suffering and minimun consumption, minimum suffering.)। अस्तु, यदि हम अपने शांति एवं आनन्द को बढ़ाना चाहते हैं तो उसी अनुपात में हमें अपने उपभोग को भी सीमित करना ही पड़ेगा। यही नहीं, हमारा अधिकतम उपभोग दूसरों के दुःखों को भी जन्म देता है, क्योंकि यदि एक व्यक्ति किसी भी चीज का अधिकतम उपभोग करता है तो निश्चित रूप से वह दूसरे के उपभोग को बाधित करता है। अतः यदि हम दूसरों का सुख चाहते हैं तो अपने उपभोग को सीमित करना ही पड़ेगा।(Our happiness hinges upon our maximum consumption, which is the prime cause of others' misery. If we want to diminish other's suffering; we will have to minimize our consumption. The only way to minimize our consumption is to restrain our desire. Desire cannot be extinguished; it may be diverted towards the welfare of humanity vis-à-vis self-interest. It is, however, possible by curbing our greed based need and changing our life style but not merely by preaching.)। इसके लिए समाज को भोगपरक संस्कृति से पृथक् करके आवश्यकता पर आधारित करना होगा, अन्यथा सर्वोदय को मूर्त रूप दे पाना सम्भव नहीं हो सकेगा। स्पष्टतः यदि आवश्यकता में स्वार्थ को जोड़ दिया जाय तो वह लोभ हो जाता है, परन्तु यदि उसी आवश्यकता में अनासक्ति को जोड़ दिया जाय तो वह लोक-कल्याण हो जाता है। यही सर्वोदय का आदर्श है।

Need + Self-interest = Greed
Need + Disinterest = Well-being for all

गाँधी जी ने कहा कि ''यह धरती सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो पर्याप्त है, परन्तु किसी एक व्यक्ति के भी लोभ की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है।'' (The earth has enough resources to meet the needs of all but not enough to satisfy the greeds of even one person.)। यदि इस तत्व दर्शन से मानव जीवन के लक्ष्य को जोड़ा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का धर्म समाज में विषमता को समाप्त करके एक समानता मूलक समाज की स्थापना करना है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्तियों के हितों में विरोध की बात समाप्त हो जायेगी। परिणामतः स्वार्थ तथा परार्थ का भेद मिट जायेगा। तदुपरांत व्यक्ति सर्व कल्याण की कामना से अभिप्रेरित होकर कर्म करता है अथवा यों कहें कि उसके द्वारा किये गये कार्यों से स्वतः लोक-संग्रह होता रहता है।

इस संदर्भ में गाँधी जी के जीवन की एक घटना है जो इस यथार्थ को स्पष्टतः व्याख्यायित करता है। एक बार वे किसी प्राइमरी स्कूल में गए हुए थे। उनका कपड़ा तो एक धोती ही होती थी, जिसे वे नीचे से बाँधते थे और उसी का आधा भाग कंधे पर ओढ़ लेते थे। जब उन्होंने अपना वक्तव्य शुरू किया तो बीच-बीच में एक लड़का हाथ उठा रहा था, जिसे कक्षा-अध्यापक रोक दे रहे थे। जब गाँधी जी ने अपना वक्तव्य पूर्ण कर लिया तब उन्होंने उस बच्चे से कहा कि बताओ तुम क्या कहना चाहते हो। उस बच्चे ने कहा कि बाबा आपके पास कपड़े नहीं है। यदि आप कहें तो मैं अपनी माँ से कह दूँ, वे आपके लिए एक कुर्त्ता सिलवा देंगी। इस पर गाँधी जी की आँखे नम हो गईं। उन्होंने कहा कि बेटे हमारे बहुत से भाई हैं जिनके पास कपड़े नहीं हैं। तुम्हारी माँ कितनों के लिए कपड़े बनाएगी। हम सभी जानते हैं कि गाँधी जी ने दूसरों के लिए कपड़ा पहनना छोड़ दिया था। यही है तदनुभूति/समानानुभूति (Empathy) अर्थात् 'पर' में 'स्व' की अनुभूति करना। तभी तो उपनिषद् के ऋषि साथ-साथ बैठने, खाने, ज्ञानवान होने एवं विवाद-रहित होने की कामना करते हैं।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।[15]

आज वैश्विक परिदृश्य में इसी की आवश्यकता है, जो उपनिषद् का मूल भाव है। यदि यह भाव हमारे अन्दर भी विकसित हो जाए तो इस धरती पर कोई भी प्राणी दुःखी नहीं रहेगा। इसी आध्यात्मवादी मान्यता पर सर्वोदय का सिद्धान्त टिका है। यही कारण है कि गाँधी जी एक ऐसे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन तथा शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपनी सर्वांगीण विकास का साधन और अवसर प्राप्त होगा। वह सत्याग्रह अर्थात् सत्य और अहिंसा पर आधारित होगा। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।

सर्वोदय को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए गाँधी जी एवं बिनोवा जी ने कुछ कार्यक्रम भी चलाये, यथा- भूदान, ग्रामदान, सम्पत्ति दान, श्रमदान, जीवन दान प्रभृति, परन्तु इस सभी के मूल में हैः हृदय परिवर्तन, जीवन शुद्धि, साधन-शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार। जबतक इन साधनों को हम नहीं अपनायोंगे, तबतक भूदान, ग्रामदान, सम्पत्ति दान, श्रमदान, जीवन दान आदि को साकार नहीं किया जा सकता है। समस्या यह है कि दान से सर्वोदय जैसे महान आदर्श को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? प्रत्युत्तर में गाँधी जी का कहना है कि दान से दानकर्त्ता एवं प्राप्तकर्त्ता दोनों का ही विकास सम्भव हो पाता है। दानकर्त्ता भौतिक रूप से सबल होते हुए भी नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से निर्बल हैं जबकि प्राप्तकर्त्ता आध्यात्मिक रूप से सबल होते हुए भी भौतिक रूप

से निर्बल हैं। अस्तु, दानकर्त्ता का नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है जबकि प्राप्तकर्त्ता का भौतिक विकास। इस प्रकार सभी का समग्र विकास हो, यही तो सर्वोदय का परम साध्य है। इस संदर्भ में महाभारतकार यह कहना अति महत्त्वपूर्ण है कि ''जो धनी होने पर भी दान न दे और निर्धन होने पर भी तपस्या न कर सके। इन दो प्रकार के मनुष्यों को गले में मजबूत पत्थर बाँधकर पानी में डुबा देना चाहिए।''

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।।[16]

इस प्रकार धनी एवं निर्धन दोनों के लिए त्याग करना परमावश्यक है। एक को धन का त्याग करना चाहिए एवं दूसरे को शरीर का। यहाँ पर शरीर के त्याग से अभिप्राय शारीरिक श्रम से है।

सर्वोदय सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ प्रश्न भी उठाये जाते हैं। कुछ समीक्षकों का कहना है कि यदि सर्वोदय का अर्थ सभी का उदय माना जाय तो सर्वोदय चेतना की सीमाबद्धता, उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव और उनसे उत्पन्न असंगतियाँ देखने में आयेगी। अमीरी और गरीबी का मेल-मिलाप कैसे मुमकिन होगा? दूसरे, उन लोगों की उदय का क्या तात्पर्य है जो समाज में पहले से ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, परन्तु सर्वोदय के अनुयायियों का कहना है कि जो अमीर हैं वे नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से गिरे हुए हैं। अतः जैसा कि विनोबा जी ने कहा कि धनी लोग बहुत पहले से गिरे हुए हैं और निर्धन लोग कभी उठे नहीं। परिणामतः दोनों को ही उठाना है।

एक अन्य प्रश्न इसकी मौलिकता के विरुद्ध उठाया जाता है। आलोचक मानते हैं कि गाँधी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय सिद्धान्त भारतीय विचारकों के लिए कोई मौलिक धारणा नहीं है। उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने कहीं भी अपनी मौलिकता का कोई दावा नहीं किया है। वे प्लेटो, अरस्तू, काण्ट आदि की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं थे अपितु धार्मिक भावना से अनुप्राणित होकर जन-कल्याण के लिए अनवरत रूप से कार्य करने वाले एक सच्चे कर्मयोगी थे। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू, मार्क्स आदि की भाँति क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से अपने सिद्धांतों का विवेचन नहीं किया है, अपितु अपने सामने आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चिंतन किया और उसका एक सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया। अस्तु, उनके दर्शन में मौलिकता की खोज करना सुसंगत नहीं है। उनकी तो सम्पूर्ण विचारधारा ही उपनिषद्, योग, जैन एवं बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि पर आधृत है। उनकी नवीनता इस बात में हैं कि उन्होंने इनको सामान्य स्तर प्रदान करते हुए व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रवाहित किया। पूर्व में इनका प्रयोग केवल व्यक्तिगत स्तर पर होता था। गाँधी जी ने उसका सफलतम प्रयोग समाज एवं विश्व स्तर पर किया, यथा- सत्य बोलो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो आदि। गाँधी जी ने इस विचार की मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्ता बतलायी है। वास्तव में उनका सर्वोदय का सिद्धान्त अद्वैत दर्शन को विचारों के धरातल से उठाकर यथार्थता के धरातल पर उतारने का प्रयत्न है, जिससे जीवन का कोई भी क्षेत्र आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक रूप से अछूता नहीं रहे। ठीक वैसे ही जैसे भारत में सत्य और अहिंसा की परम्परा भी पुरानी है। वेद, उपनिषद, गीता, बुद्ध तथा महावीर आदि मनीषियों ने अहिंसा को प्रतिष्ठित किया पर गाँधी जी ने इनको केवल वैयक्तिक जीवन में नहीं अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी उपयोगी पाया है। इस प्रकार गाँधी जी की मौलिकता इन सम्प्रत्ययों के समाजीकरण में है।

कुछ अन्य दार्शनिक इसे अव्यावहारिक अथवा काल्पनिक भी बताते हैं। यहाँ पर प्रश्न व्यवहार अथवा आदर्श का नहीं है। प्रश्न इसका नहीं कि मनुष्य क्या करता है, परन्तु इसका है कि ''क्या

होना चाहिए'' (What ought to be?)। आदर्श के विचार में समग्रता होनी चाहिए, आंशिकता नहीं। सबका हित हो कुछ का नहीं, यही आदर्श होना चाहिए। आदर्श, यथार्थ की व्याख्या नहीं, बल्कि उसकी दिशा निर्धारित करता है। यह पकड़ में नहीं होता, पहुँच में अवश्य होता है। उस दिशा में निरन्तर चलते रहने पर प्रगति अवश्य होती है। आदर्श यदि यथार्थ हो तो फिर प्रगति किस ओर होगी। गाँधी के अनुसार वह आदर्श जो व्यवहार में परिणत किया जा सके, वास्तव में एक बहुत तुच्छ आदर्श है। जीवन का आनन्द तो लक्ष्य को प्राप्त करने में नहीं, वरन् उसके लिए सतत् प्रयास करने में है। हम उसके निकट पहुँच सकते हैं, किन्तु उसे पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उदाहरणार्थ- युक्लिड ने कहा कि बिन्दु वह है जो ''आयामरहित'' (Dimensionless) हो, किन्तु ऐसा बिन्दु न तो आज तक बन पाया है और न ही भविष्य में इसकी सम्भावना ही है। फिर भी उस आदर्श बिन्दु पर ही सम्पूर्ण ज्यामिति आधारित है। जो बात बिन्दु के विषय में सत्य है वही सर्वोदय के बारे में भी सत्य है। सभी का सभी प्रकार से उदय, ऐसा विचार अप्राप्य या असाध्य नहीं अपितु प्रयत्न साध्य है। क्योंकि यह प्रयत्न साध्य है, इसलिए यह व्यवहार की नीति का निर्देश करता है।

संदर्भ

1. Montagu, Ashley (1968): On Being Human, Hawthorn Books, Inc./ Publishers New York, P. 26
2. Wheeler, W.M. (1922): "The Social life of the Insects", Harcourt, Brace & Co., New York. Quoted from Montagu, Ashley (1968): On Being Human, Hawthorn Books, Inc./Publishers New York, P. 31
3. दादा धर्माधिकारी (1983)ः सर्वोदय-दर्शन, सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृष्ठ- 1।
4. Kropotkin, Prince Peter (1902): "Mutual Aid: A Factor of Evolution", New York University Press, New York, P. 4
5. महोपनिषद् - 6/71।
6. आदि शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत।
7. दादा धर्माधिकारी (1983)ः सर्वोदय-दर्शन, सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृष्ठ- 5।
8. उपर्युक्त, पृष्ठ- 3।
9. उपर्युक्त, पृष्ठ- 3।
10. St. Matthew, 20:1-16, King James Verson.
11. दादा धर्माधिकारी (1983)ः सर्वोदय-दर्शन, सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृष्ठ- 5।।
12. उपर्युक्त, पृष्ठ- 16।
13. उपर्युक्त, पृष्ठ- 177।
14. ईशोपनिषद्, 1/1।
15. कठोपनिषद्, 2/3/19
16. महाभारत, उद्योग पर्व- 33/60

मानव अधिकार शिक्षा के प्रति महाविद्यालयों के छात्रों की अभिवृत्ति का अध्ययन

डॉ0 सारिका श्रीवास्तव
सहायक आचार्य
बी0 एड0 विभाग, दयानंद गर्ल्स कालेज, कानपुर

मानव अधिकार के अर्न्तगत सिविल तथा राजनैतिक तथा आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित रहते हैं। मानव अधिकार का विचार मानवीय गरिमा से है। अतः उस व्यक्ति से सम्बन्धित सभी अधिकारों को मानव अधिकार कहा जा सकता है जो मानवीय गरिमा बनाये रखने के लिए आवश्यक है। विश्व मानवाधिकार सम्मेलन 1993 में वियाना के घोषणा-पत्र में यह कहा गया था कि सभी मानव अधिकार व्यक्ति की गरिमा तथा अन्तर्निहित योग्यता से होते हैं। व्यक्ति मानव अधिकार तथा मूल स्वतंत्रताओं का केन्द्रीय विषय है। मानव अधिकार इस बात को निर्दिष्ट करते है कि किसी व्यक्ति की इच्छा के विरूद्ध कार्य नहीं किये जा सकते है या नही किया जाना चाहिये। व्यक्ति को अन्यायोचित तथा अपमानजनक व्यवहार से संरक्षित नहीं किया जाना चाहिये। दार्शनिक अरस्तू ने मानवाधिकार, मनमाने पूर्ण शक्ति प्रयोग के विरूद्ध प्रयोग करने को माना है। परन्तु मानव अधिकार की आशा केवल संगठित समुदायों अर्थात राज्य में ही की जा सकती है जहाँ सामाजिक व्यवस्था रहती है। अराजकता की स्थिति में मानव अधिकार की कल्पना व्यर्थ है। अत मानव अधिकार संरक्षण का सिद्धान्त व्यक्ति की अवधारणा तथा उसके संगठित समाज में रहने के कारण उत्पन्न होती है।

मानव अधिकार की संकल्पना उतनी ही पुरानी है जितनी प्रकृति-प्रदत्त अधिकारों से है जो प्रकृति प्रदत्त नियमों से संचालित होते हैं। अतः इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ही मौलिक, सार्वभौमिक, समान व शाश्वत नियमों की जननी है। मानव अधिकार के चिन्तकों ने यह अवधारणा विकसित की है कि सार्वभौमिकता हस्ताक्षेप न करने का सिद्धान्त ही, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को मानने तथा इनके मध्य अन्तर विरोध नहीं है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि 17वीं शताब्दी से ही सरकारों की घरेलू नीतियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की विषय वस्तु नहीं थी।

इस प्रकार व्यवस्थापिका के अधिकारों को प्राकृतिक प्रदत्त अधिकारों द्वारा सीमित कर दिया गया। मानव को प्राप्त प्राकृतिक अधिकारों का हनन होने वाले व्यवस्थापिका के नियमों को अवैध माना। स्वबाम ने अपने आधारभूत सिद्धान्तों को केवल राज्यतंत्र का विरोध स्वरूप न प्रस्तुत कर विधायिका को भी नियंत्रित करने तथा मार्गदर्शक के रूप में उपस्थित किया परन्तु इस सिद्धान्त के आलोचकों ने यह माना कि प्राकृतिक प्रदत्त अधिकार स्वयं में असीमित अथवा निरपाद नहीं है बल्कि सामाजिक नियमों, परनियमों के अनुसार मानव की स्वतंत्रता व समानता के आधार पर जनता द्वारा चयनित शासन इनको भी नियामिका द्वारा नियंत्रित व निर्देशित किया जा सकता है।

इस प्रकार सापेक्ष अधिकार वे हैं जो कि प्रत्येक मानव उस समाज का सदस्य होने के कारण समाज से प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक राजनैतिक समाज को व्यक्ति के मूल अधिकारों को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित करना चाहिये। अत जनता द्वारा चयनित शासन अथवा शासन तंत्र इन अधिकारों को बाधित नहीं कर सकता है जब तक कि व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण समाज को निर्बाध गति से चलने में व्यवधान उत्पनन्न करें। इस प्रकार यह सम्पूर्ण समाज की सुरक्षा व सुख साधन को सुरक्षित करता है। ब्लैकस्टोन ने प्राकृतिक प्रदत्त अधिकारों को राजनैतिक दर्शन से पृथक करते हुए न्यायिक विवेचना का अंग माना।

मानव अधिकार के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण : मानव अधिकार के निम्न सिद्धान्त है जिनके आधार पर मानव अधिकार व्याखित होते हैं :-

1. **प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त-** यह सिद्धान्त मानव अधिकार के संकल्पना की व्यापकता तथा अन्तर्निष्ठात्मक स्थिति से जुड़े हैं। इस सिद्धान्त को सर्वाधिक मान्यता तथा प्रोत्साहन 17वीं शताब्दी में प्राप्त हुआ था, जो कि जॉनलाक के अनुभववाद, थॉमस हाब्स के भौतिकवाद, इस्पिनोज़ा के विचारों तथा रेनेडिकार्टस के बुद्धिवाद से व्यापक रूप में प्रभावित था। इस सिद्धान्त को प्रभावित करने में दार्शनिक वाल्टेयर, रूसो तथा मान्टेक्यू का योगदान भी है। राज्यों को इन अधिकारों को सुनिश्चित कर उनके हितों की रक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार एक लोकप्रिय तथा दायित्वपूर्ण राज्य शक्ति का उदय होता है और प्राकृतिक आधार पर मानव अधिकारों का उदय प्रारम्भ हो जाता है।

2. **विधिजन्य अधिकार का सिद्धान्त-** इसके अनुसार मानव अधिकार विधिजन्य तथा कानून के दायरे में माना जाता है। कानून द्वारा प्रदत्त अधिकार राज्य की संरचना में आते हैं। विधिजन्य अधिकार के सिद्धान्त को मानने वाले विचारक सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कोई भी अधिकार प्रकृति में अन्तर्निहित नहीं होते हैं और न ही पूर्ण।

3. **मानव अधिकार का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त-** यह सिद्धान्त मानव समाज के कल्याण पर आधारित सिद्धान्त है, अत इसे सामाजिक समचीनता का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के विचारकों के अनुसार पारम्परिक, विधिजन्य एवं प्राकृतिक सिद्धान्त मूलत सामाजिक कल्याण की अवधारणा पर आधारित होते हैं जैसे- अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सामाजिक कल्याण के आधार पर विनियमित होती है। मानव अधिकारों के विकास में सामाजिक कल्याण की महती भूमिका रही है, जिसके फलस्वरूप मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में सांस्कृतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों को समाहित किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रणेता के रूप में सामाजिक विधिशास्त्री रस्को पाउंड का नाम उल्लेखनीय है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मानव अधिकारों को ऐतिहासिक प्रक्रिया की रचना माना जाता है जिसके अनुसार लम्बे समय से चली आ रही परम्परा कालक्रम के आधार का रूप धारण कर लेती है जैसे- अधिक समय तक जिस मार्ग पर गमन किया जाता है उसे हर व्यक्ति चलने का मार्ग मान लेता है यह अधिकार हो जाता है कि उस पर चलने से उसे रोका नहीं जा सकता है।

मानव अधिकार के प्रकार : मानव अधिकार अविभाज्य एवं अन्योन्याश्रित है। सभी प्रकार के मानव अधिकार समान महत्व के हैं तथा अन्तर्निहित होते हैं। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों का वर्णन किया गया है। संयुक्त राष्ट्र प्रणाली के अर्न्तगत मानव अधिकार के क्षेत्र में किये गये विकास के आधार पर निम्न भागों में बाँटा जा सकता है।

सिविल एवं राजनैतिक अधिकार : इस अधिकार के अर्न्तगत वे अधिकार हैं जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता के संरक्षण से सम्बन्धित हैं। यह अधिकार सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, जिससे वे गरिमामय जीवन व्यतीत कर सकें। इन अधिकारों के अर्न्तगत व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सुरक्षा, एकांतता का अधिकार, पत्राचार, सम्पत्ति रखने का अधिकार, उत्पीड़न से बचाव, अमानवीय एवं अपमानजनक व्यवहार से स्वतंत्रता का अधिकार अन्तरात्मा के आधार पर स्वतंत्रता व्यक्त करने के अधिकार आते है।

आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार : आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का सम्बन्ध मानव जीवन के न्यूनतम आवश्यकताओं को उपलब्ध करवाने से है। इन अधिकारों के अभाव में मानव-प्राणियों के अस्तित्व खतरे में पड़ने की सम्भावना होती है। इन अधिकारों में पर्याप्त

भोजन, वस्त्र, आवास, जीवन का समुचित स्तर, काम का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एवं शिक्षा का अधिकार इसमें सम्मिलित होते हैं।

न्यादर्शः न्यादर्श सम्पूर्ण समूह में से चुनी हुई ऐसी इकाइ्यों का समूह है जो सम्पूर्ण समूह का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करे। किसी जनसंख्या में किसी च का मान ज्ञात करने के लिए कुछ इकाईयों को चुना जाता है। इन चुनी हुई इकाईयों के समूह को न्यादर्श कहते हैं। इकाईयों के समूचे समूह को जिसके लिए चर का मान निकालना अभीष्ठ है, जनसंख्या कहते हैं। जिस गुण या विशेष अवस्था का अध्ययन किया जाता है वह चर कहलाती है। चर की मात्रा जिसे किसी छोटे से घटक में ज्ञात करते हैं, वह इकाई कहलाती है।

न्यादर्श का चयन का मुख्य कारण, समय, धन की बचत व विस्तृत क्षेत्र तथा अधिक सत्यता से प्रयास की सुविधा प्राप्त होती है। न्यादर्श चुनाव की ऐसी प्रक्रिया है जो अध्ययन के लिए छोटे प्रतिनिधि का चुनाव करती है, जिसको सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व समझा जाता है।

वर्तमान शोध में सम्भवत न्यादर्श के अर्न्तगत यादेच्छिक न्यादर्श, स्तरीकृत न्यादर्श तथा गुच्छ न्यादर्श में से वर्तमान शोध हेतु स्तरीकृत न्यादर्श को इस अध्ययन में प्रयोग किया गया है। जब कभी विभिन्न स्तरों की जनसंख्या के लिए समष्टि ज्ञान की आवश्यकता होती है तब स्तरीकृत यादेच्छिकी न्यायदर्श को चुना जाता है।

वर्तमान शोध हेतु शोधार्थिनी द्वारा कानपुर मंडल के ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में स्थित महाविद्यालयों में अध्ययनरत त्रिवर्षीय स्नातक स्तर के अन्तिम कक्षा के 400 छात्र-छात्राओं का चयन किया गया। शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र में महाविद्यालयो की सूची कानपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त कर लाटरी विधि के द्वारा महाविद्ययालये तत्पश्चात् प्रत्येक चुने गये विद्यायालयों से लाटरी विधि के द्वारा ही छात्रों का चयन किया गया, जो कि सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिदर्श था।

अभिवृत्ति परीक्षण का निर्माण

मानव अधिकार शिक्षा के प्रति महाविद्यालयी छात्रों की अभिवृत्ति के अध्ययन हेतु परीक्षण मे निम्न आयामों के अर्न्तगत कथनों का चयन किया गया, जो कि निम्नलिखित हैं :-

1. स्वतंत्र अभिव्यक्ति का सिद्धान्त
2. समानता का सिद्धान्त
3. भाई-चारे का सिद्धान्त
4. पंथनिरपेक्षता का सिद्धान्त
5. जातिविहीन समाज की स्थापना
6. सर्व शिक्षा प्रदान करने का सिद्धान्त
7. शोषण के विरूद्ध
8. पर्यावरणीय मूल्यों को विकसित करने में

परीक्षण की विश्वसनीयता : परीक्षण की विश्वसनीयता ज्ञात करने की विभिन्न विधियॉ हैं जैसे- परीक्षण, पुनर्परीक्षण , समान्तर प्रारम्भ विधि, अर्ध विच्छेदन विधि। अभिवृत्ति परीक्षण की विश्वसनीयता जानने हेतु अर्धविच्छेदन विधि का प्रयोग किया गया तथा सह-सम्बन्ध गुणांक निकाला गया। विश्वसनीयता गुणांक $r = 68$ प्राप्त हुआ जो कि इस शोध हेतु विश्वसनीयता है।

परीक्षण की वैधता : इस परीक्षण की वैधता गुणांक $r = 70$ प्राप्त हुआ जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है परीक्षण वर्तमान शोध हेतु सामान्य रुप से वैध है तथा आंकड़ों के आधार पर परिणाम प्राप्त होंगे।

संकेतांक :-

A_1 ग्रामीण क्षेत्र

A_2 शहरी क्षेत्र

B_1 छात्र

B_2 छात्राएं

A× B इन्ट्रेक्शन

ग्रामीण व शहरी छात्रों का मानव अधिकार शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति-प्रसार विसरण तालिका

तालिका-12

	B_1	B_2	A Mean
A_1	73.71	5.10	74.40
A_2	77.17	78.20	77.68
B Mean	75.44	6.65	76.04

प्रसार विसरण (एनोवा) तालिका - 13

सोर्स ऑफ वैरियन्स	डी.एफ.	एस.एस.	एम.एस.एस.	एफ.
ग्रुप्स	3	1225.49	408.49	8.1**
A	1	1075.84	408.49	21.38**
B	1	146.41	1075.84	2.91*
A× B	1	3.24	146.41	0.064
एरर	396	19917.70	3.24	
योग	399	21143.19	52.99	

उपरोक्त प्रसार विसरण तालिका में विभिन्न समूहों के मानव अधिकार शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति के F मान प्रदर्शित कर रही है, जो कि सार्थक है। F=8.12p>.01 यह मान इंगित करता है कि ग्रामीण व शहरी स्नातक छात्र-छात्राओं का मानव अधिकार शिक्षा के प्रति सार्थक अभिवृत्ति है अर्थात दोनों ही क्षेत्र के छात्र स्वतन्त्रता समानता, भ्रातत्व भाव, पंथनिरपेक्षता, वर्गविहीन समाज, सर्वजन शिक्षा, सर्वजनहित तथा पर्यावर्णीय मूल्यों हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के द्वारा वर्णित विभिनन्अधिनियम तथा अनुच्छेदों की जानकारी प्राप्त करने के प्रति सार्थक अभिवृत्ति रखते हैं। दोनों ही क्षेत्र के छात्र-छात्राओं में भी F मान सार्थक है। F=21.38p>.01 तथा F=2.91p>.01 ग्रामीण शहरी क्षेत्र तथा छात्र-छात्राओं का मान क्रमश : प्रदर्शित कर रहा है। यह थ् मान भी दोनों क्षेत्र की छात्र-छात्राओं की मानव अधिकार शिक्षा के प्रति सार्थक अभिवृत्ति दिखाता है। मध्यमान तालिका से मध्यमानों में अन्तर दिख रहा है, यह इस ओर इंगित करता है कि ग्रामीण शहरी छात्रों तथा छात्राओं की अभिवृत्ति में अन्तर है।

शहरी छात्रों व छात्राओं का मध्यमान M=77.17 तथा M=78.20 क्रमश है यह इंगित करता है कि शहरी छात्राएं शहरी छात्रों की तुलना में मानव अधिकार शिक्षा के प्रति अधिक अभिवृत्ति भी रखती हैं। ग्रामीण छात्राएं भी ग्रामीण छात्रों की अपेक्षा मानव अधिकार शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति अधिक है। M=73.71 तथा M=75.10 क्रमशः है। यह मध्यमान मान इस ओर इंगित करते हैं कि शहरी छात्र व छात्राओं की अभिवृत्ति ग्रामीण छात्र व छात्राओं की अपेक्षा अधिक है। इसका कारण यह हो सकता है कि विभिन्न माध्यमों समाचार पत्र रेडियो, टेलीविजन आदि के द्वारा मानव के अधिकारों के प्रति अधिक जागरुकता रखते हैं। परिवर्तित परिवेश तथा शहरीकरण के कारण वे परिवर्तनों तथा होने वाले सामाजिक व नैतिक प्रगति से अधिक परिचित हैं। उनमें स्वतंत्रता, समानता के सिद्धान्त पर मानव संरक्षण के प्रति एवं धर्म निरपेक्ष व वर्णविहीन समाज स्थापना के प्रति

अभिवृत्ति रखते हैं। जबकि ग्रामीण क्षेत्र के छात्र व छात्राओं में तुलनात्मक रुप से अभिवृत्ति कम है। इसका कारण यह हो सकता है कि ग्रामीण क्षेत्र में अभी भी जाति-विभेद शिक्षा की कमी एवं रुढ़िवादिता के कारण बालिकाओं की शिक्षा कम है यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में प्रचार-प्रसार तो है परन्तु शहरों की तुलना में गुणात्मकता की कमी है। स्कूल कालेजां की संख्या में वृद्धि हुयी है परन्तु पठन-पाठन के स्तर में पर्याप्त उच्चतर गुणवत्ता की कमी है। तथापि वे भी मानव अधिकार शिक्षा प्राप्त करना समझते हैं, जिसमें ग्रामीण छात्राएं अपने-अपने मानव अधिकारों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं तथा वे भी शहरी छात्राओं के समान मानव अधिकारां के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति के विकास को आवश्यक समझती हैं। मानव अधिकारों के संरक्षण तथा सर्वजन हिताय के प्रति सार्थक अभिवृत्ति विकसित करना दोनों ही आवश्यक समझते हैं।

स्वतन्त्र अधिकार के प्रति छात्रों की अभिवृत्ति-प्रसार विसरण

मध्यमान तालिका-14

	B_1	B_2	A Mean
A_1	72.78	74.0	73.39
A2	77.17	78.20	77.68
B Mean	74.97	76.10	75.63

प्रसार विसरण (एनोवा) तालिका - 15

सोर्स ऑफ वैरियन्स	डी.एफ.	एस.एस.	एम.एस.एस.	एफ.
ग्रुप्स	3	1125.4	408.49	8.1**
A	1	1075.82	1075.82	21.38**
B	1	146.41	1075.84	2.91*
A× B	1	3.2	3.2	0.06
एरर	396	199.17	5	
योग	399	21143.19	52.99	

उपरोक्त प्रसार विसरण तालिका प्राप्त F मान .01 स्तर पर सार्थक है। ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के छात्रों का स्वतंत्र अधिकार के प्रति अभिवृत्ति सार्थक है, जो कि F मान से प्रदर्शित है। F=21.38p>.01 तथा छात्राओं का F=2.91p>.05 है यह इंगित करता है कि ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के छात्र व छात्राओं की स्वतंत्र कार्य अधिकार के प्रति मनोवृत्ति सार्थक है जिसके अन्तर्गत अभिवृत्ति स्वतन्त्र रुप से करने तथा स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने का अधिकार है। स्वतन्त्र संरक्षण के अधिकार के प्रति सार्थक मनोवृत्ति रखती हैं। जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता को संरंक्षित रखा जा सके तथा स्वतंत्रता उल्लघंन के समय उनको प्रयोग करने के प्रति दायित्व विकसित करते हैं।

स्नातक स्तर के छात्र-छात्राओं में अभिवृत्ति में अन्तर है जो कि दोनो के मध्यमान मान के द्वारा प्रदर्शित है। ग्रामीण व शहरी छात्र-छात्राओं का मध्यमान M=72.78 तथा M=74.00 एवं शहरी क्षेत्र की M=77.17 व M=78.20 क्रमश छात्र-छात्राओं का है। इस मध्यमान अन्तर से यह स्पष्ट होता है कि शहरी छात्र-छात्राएं ग्रामीण छात्र-छात्राओं की तुलना में स्वतन्त्र अधिकार के संरक्षण के प्रति अधिक अभिवृत्ति रखती हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि शहरी छात्र स्वतंत्रता संरक्षण के प्रति अधिक जागरुक है। वे मानव अत्याचार के विरुद्ध हैं तथा स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित लोगों को स्वतंत्र चिंतन हेतु प्रेरित करते है। यह समाचार माध्यमों व शिक्षा के

कारण सम्भव है। जबकि ग्रामीण क्षेत्र के छात्र यद्यपि स्वतंत्र अभिवृत्ति के प्रति जागरुक हैं परन्तु सामाजिक व पर्यावर्णीय विसंगतियो व रुढ़िवादिता के कारण अपनी अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रुप से नही कर पाते। दोनो ही क्षेत्र के छात्राओं का मध्यमान छात्रों की अपेक्षा अधिक है जिससे यह इंगति होता है कि स्वतंत्र संरक्षण हेतु छात्रों से अधिक सजग हैं। इन परिणामों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छात्राओं में शिक्षा के कारण स्वतंत्र चिंतन व व्यवहार के प्रति शहरी क्षेत्र के छात्राओं का ग्रामीण क्षेत्र की छात्राओं का मानव अधिकार शिक्षा के प्रति अधिक अभिवृत्ति है। क्योंकि वह मानती हैं कि नारियों के स्वतंत्र अभिव्यक्ति में बाधायें आती हैं जिनको वे मानव अधिकार शिक्षा के द्वारा दूर कर सकती हैं। ग्रामीण छात्र का स्वतंत्र अधिकार के प्रति अभिवृत्ति शहरी छात्रों की अपेक्षा कम है। जिसके कारण वे यह मानते हैं कि ग्रामीण परिवेश में स्वतंत्र अभिव्यक्ति की संभावना कम है। अत मानव अधिकार शिक्षा के प्रति उनकी अभिवृत्ति विकसित करने के प्रति अधिक बल देते हैं।

समानता के अधिकार के प्रति छात्रों की अभिवृत्ति-प्रसार विसरण

मध्यमान तालिका-16 N = 400

	B_1	B_2	A Mean
A_1	37.23	28.27	30.25
A2	32.80	32.70	32.75
B Mean	30.01	30.48	31.50

प्रसार विसरण (एनोवा) तालिका - 17

N = 400

सोर्स ऑफ वैरियन्स	डी.एफ.	एस.एस.	एम.एस.एस.	एफ.
ग्रुप्स	3	8020.50	2673.50	169.6**
A	1	1075.82	8019.20	493.72**
B	1	1.10	1.10	0.067
A× B	1	0.202	0.202	0.012
एरर	396	6431.99	16.24	
योग	399	14452.49	36.22	

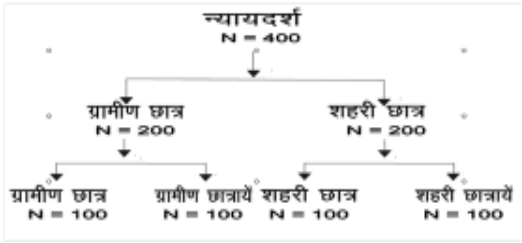

ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के छात्र-छात्राओं का प्राप्त F मान, F=164.6p>.01 तथा F=493.72p>.01सार्थक है। यह सार्थक थ् मान इस ओर इंगित ऊरता है कि ग्रामीण व शहरी क्षेत्र के छात्र मानव अधिकार शिक्षा के द्वारा सभी के प्रति समानता के भाव रखने के प्रति सार्थक अभिवित्त रखते हैं। अन्तर सम्बन्ध असार्थक है। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों ही क्षेत्र के स्नातक स्तर के छात्र-छात्राओं में समानता के प्रति समान अभिवृत्ति है। प्राप्त मध्यमान में अन्तर है। ग्रामीण क्षेत्र के छात्र व छात्राओं का मध्यमान M=37.23 तथा M=28.27

शहरी क्षेत्र के छात्र-छात्राओं का M=32.80 तथा M=32.70 है जो कि ग्रामीण क्षेत्र के छात्रों से कम है यह इस ओर इंगित करता है कि शहरी क्षेत्र के छात्र-छात्राओं मे मानव अधिकार शिक्षा द्वारा समानता के प्रति मनोवृत्ति विकसित होती है। इसका कारण यह हो सकता है कि शहरी छात्र व छात्राओं को समानता के बारे में नियम तथा विधिक अभिकरणों के बारे में अधिक जानकारी है। छात्र-छात्राओं के मध्यमान में अन्तर अंशो में है। अत यह कहा जा सकता है कि दोनो ही मानव अधिकार शिक्षा के प्रति सार्थक अभिवृत्ति रखते हैं तथा समानता में विश्वास रखते हैं यह उनकी शैक्षिक, सामाजिक, पारिवारिक जागरुकता व उनर्नति के समान अवसर प्राप्त होने के कारण हैं।

ग्रामीण छात्राओं में शहरी छात्राओं की अपेक्षा समानता की ओर अभिवृत्ति कम है जो कि मध्यमान मान के द्वारा प्रदर्शित है। यह ग्रामीण व पारिवारिक परिवेश के कारण भी है, जहॉ पर बालकों की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता है, क्योंकि परिवार यह मानता है कि भविष्य में ये ही परिवार कों संरक्षण प्रदान करेंगे। ग्रामीण परिवेश में अभी भी बालिकाओं की शिक्षा पर कम ध्यान दिया जाता है तथा महिला समानता के सिद्धान्त का प्रतिपालन नही होता। रुढ़िवादिता के कारण माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् उच्च शिक्षा के प्रति मनोवृत्ति विकसित नही हो पाती तथा वह कम शौक्षणिक उन्नति अपनी नियत मान लेती हैं। ग्रमीण छात्रों का मध्यमान शहरी छात्र-छात्राओं से अधिक है। यह इंगित करता है कि वह समानता के सिद्धान्त से अधिक अभिप्रेरित हैं तथा वे मानते हैं कि मानव अधिकार शिक्षा द्वारा सभी को समान शिक्षा, समान संरक्षण, तथा समान व्यावसायिक अवसर मिलने चाहिए। यह पारिवारिक परिवेश के कारण है। जहां पर छात्राओं की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

संदर्भ

1. Agarwal Umesh (2004). Sarva Siksha Abhiyan, Bhartiya Aadhunik Siksha 3, 9-14.
2. Bhattacharya, G.C. (2001) Teaching of human right at the B.Ed. level;
3. Needs and objectives. University News, 39 (52).
4. Flowers, N. (1998) Human Rights : Here and Now. Minneapolis, MN : Human Right Educator's Network.
5. Hilsdon, Anne Marie-Macintyre, Martha & Mackie, Vera and Stivens, Malia (eds.) (2001) Human Rights and Gender Politics : Asia-Pasific Perspectives, Routledge, New York.
6. Jagannath Mohanty (2000) Human Rights Education, Deep and Deep.
7. Pandey, V.P. (1999) International Perspectives on Human Rights. New Delhi, Mohit Publications.

मनुस्मृति और राजधर्म

डॉ0 नितिश दुबे
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग, डी0ए0वी0, पी0जी0 कॉलेज, कानपुर

भारतीय धार्मिक साहित्य में स्मृतियों को विशेष स्थान प्राप्त है। श्रुतियों के बाद यदि बात की जाए तो 'स्मृतियों' को विशिष्ट मान्यता प्राप्त है। धर्म के मूल स्रोत में स्मृतियाँ प्रधान है। गौतम के अनुसार धर्म के तीन मूल आधार हैः वेद, वेद को जानने वालों की स्मृति तथा उनका शील (सदाचार)

''वेदो धर्म मूलम तद्विक्षं च स्मृति शीले।''

अतः वेदों के बाद भारतीय धार्मिक साहित्य में स्मृतियों का स्थान है। स्मृति का अर्थ स्मरण से है। दूसरे रूप में हम यह भी कह सकते हैं कि जो सामाजिक विधान परम्परा से चला आ रहा है वही स्मृति है। इस सम्बन्ध में 'याज्ञवल्क्य' कहते है कि- वेद, स्मृति, सज्जनों के आचरण, अपनी आत्मा के अनुकूल कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा धर्म के मूल है-

''श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वरूप च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्म मूलमिद स्मृतम।''[2]

स्पष्टतः धर्म मीमांसा हेतु वेदों के बाद स्मृतियाँ ही अधिक प्रमाणिक हैं। स्मृतियों के तीन विषय प्रमुख हैं- आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित। स्मृतियाँ धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों का विशाल भण्डार है। एक अर्थ में यह वेदवाङ्मय से इतर ग्रन्थों तथा पाणिनी के व्याकरण, श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्रों, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य ग्रन्थों से सम्बन्धित है। मनु ने वेद को श्रुति तथा धर्मशास्त्र को स्मृति माना है।

''श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रम् तु वै स्मृति।''[4]

यद्यपि स्मृति की संख्या के संदर्भ में धर्म ग्रन्थों में मतभेद हैं फिर भी इतना स्पष्ट है कि आरम्भ में स्मृति ग्रन्थ कम थे। मनु ने 6 स्मृतिकार बताए हैं। गौतम ने मात्र मनु को स्मृतिकार माना है। याज्ञवल्क्य स्वयं को मिलाकर 20 स्मृतिकार मानते हैं।

मनुष्य ने जब समाज एवं राष्ट्र के अस्तित्व तथा महत्त्व को मान्यता दी तब उसके कर्तव्यों एवं अधिकारों की व्याख्या निर्धारित करने तथा नियमों का अतिक्रमण करने पर दण्ड व्यवस्था की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई। यही कारण है कि विभिन्न युगों में विभिन्न स्मृतियों की आवश्यकता उत्पन्न हुई, जिसमें मनुस्मृति को विशेष स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति में 12 अध्याय 2500 श्लोक हैं, जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति संस्कार, नित्य एवं नैमित्तिक कर्म, आश्रम, धर्म, वर्ण धर्म, राजधर्म एवं प्रायश्चित आदि अनेक विषयों का उल्लेख है। ब्रिटिश शासकों द्वारा बनाया गया इण्डियन पेनल कोड भी मनुस्मृति को आधार बनाकर निर्मित किया गया तथा स्वतंत्र भारत की विधानसभा भी मनुस्मृति पर आधारित है। किसी भी व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास तथा सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित रूप देने के लिए एवं व्यक्ति के लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने में मनुस्मृति एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। वास्तव में मनुस्मृति भारतीय आचार संहिता का विश्वकोश है तथा भारतीय समाज हेतु अत्यंत उपयोगी ग्रन्थ है। मनुस्मृति में विभिन्न समाजोपयोगी विषयों का संग्रह है जिसमें से प्रस्तुत शोध पत्र में राजधर्म विषय की उपयोगिता पर विचार किया जायेगा।

मनुस्मृति में राजधर्म विषय अत्यन्त उपयोगी विषय है, क्योंकि इसमें राजा के कर्तव्य, गुण तथा महत्त्व आदि का समावेश है जिसके द्वारा शासन व्यवस्था का संचालन सुचारू रूप से सम्पन्न होता है तथा प्रजातांत्रिक आदर्शों की स्थापना होती है राजा का महत्त्व बताते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि

''अराजके हि लोकऽस्मिन् सर्वगे विद्रुते भयात।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।''[5]

अर्थात् राजा के अभाव में इस संसार में सर्वत्र उपद्रव होने लगता है, लोक भयग्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए ईश्वर ने सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा हेतु राजा को उत्पन्न किया। मनुस्मृति में राजा के विभिन्न कर्तव्य बताए गए हैं जिसके अनुसार राजा अपने तथा प्रजा के हित करने वालों को जल्द से जल्द पुरस्कृत करे तथा स्वयं एवं प्रजा के अहित करने वालों को दण्डित करें। मनुस्मृति में राजा को ईश्वर द्वारा दिव्य गुणों से निर्मित बताया गया है तथा राजा को देवताओं का प्रतिनिधि भी कहा गया है-

''इन्द्रानिलयमार्काणाम्ग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्राः निर्हित्य शाश्वतीः।।''[6]

अर्थात् ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के दिव्य गुणों को लेकर राजा की सृष्टि की है। अभिप्राय यह है कि राजा में दिव्य गुण होते हैं और वह देवों का प्रतिनिधि रूप होता है। राजा को देवताओं के समान माना गया है जो सभी प्रकार के तेज से सम्पन्न है। राजा की प्रसन्नता से व्यक्ति को लाभ की प्राप्ति होती है तथा उसके क्रोधित होने पर व्यक्ति का सर्वनाश होता है।

''यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्चे वसति क्रोधे सर्वतेजमयो हि सः।।''[7]

अर्थात् राजा सभी तेजों से सम्पन्न देवरुप है, तभी तो उसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय तथा क्रोध में मृत्यु का वास रहता है। अभिप्राय यह है कि राजा के प्रसन्न होने पर व्यक्ति को ऐश्वर्य लाभ होता है जबकि उसके क्रुद्ध होने पर व्यक्ति का सर्वनाश होता है-

''तस्माद् धर्म यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्म न विचालयेत्।।''[8]

अर्थात् राजा को चाहिए कि अपने अनुकूल व्यक्तियों में इष्ट (प्रिय) के और प्रतिकूल व्यक्तियों में अनिष्ट के निश्चय को यथाशीघ्र कार्य रूप दें। इसमें किसी प्रकार का डांवाडोल नहीं होना चाहिए। अनुकूलों को यथाशीघ्र पुरस्कृत तथा प्रतिकूलों को दण्डित करने से प्रजा में वांछित प्रतिक्रिया होती है। मनुस्मृति के अनुसार ईश्वर ने राजा को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया है जो सभी प्राणियों की धर्मानुसार रक्षा करने के लिए उत्पन्न हुआ है-

''तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमुत्सृजत्पूर्वमीश्वरः।।''[9]

अर्थात् ईश्वर ने सभी प्राणियों की धर्मानुसार रक्षा के लिए ब्रह्म तेज से सम्पन्न अपने प्रतिनिधि रूप राजा को दण्ड देने की शक्ति और अधिकार प्रदान किये हैं। मनुस्मृति एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। ऋग्वेद में मनु को ''मानव जाति का पिता कहा गया है।''[10] अतः मनु द्वारा बताए गए राजधर्म सम्बन्धी विचार भी अत्यन्त प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। ''वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय 2694 श्लोक हैं। यह सरल एवं धारा प्रवाह शैली में लिखा गया है। इसका व्याकरण पाणिनी के समान है। इसके सिद्धान्त गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब के धर्म सूत्रों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं इसके बहुत से श्लोक वशिष्ठ एवं विष्णु के धर्म सूत्रों में भी पाये जाते हैं। ''भाषा एवं सिद्धान्तों में मनुस्मृति एवं कौटिलीय में बहुत कुछ समानता है।''[11] कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में राजधर्म की विस्तृत विवेचना की है। जिसमें प्रजा कल्याण हेतु राजा के कर्तव्यों का विवेचन किया गया है।

वर्तमान समाज में भी प्रजातांत्रिक आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता है जो मनुस्मृति में बताये गये सिद्धान्तों के माध्यम से ही हो सकती है। मनु के सिद्धान्त अत्यंत प्राचीन

है। महाभारत में भी मनु का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में मनु को कभी केवल 'मनु' कभी 'स्वयंभू मनु'[12] और कभी 'प्राचेतस मन'[13] कहा गया है। अतः मनुस्मृति में बताए गए सिद्धान्तों की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। राजधर्म का वर्णन करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि प्रजा को नियमित एवं अनुशासित करने के लिए दण्ड का भय अत्यावश्यक है-

''सर्वो दण्डजितो लोके दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद् भोगाय कल्पते।।''[14]

अर्थात् दण्ड के भय से ही लोग अनुशासित रहते हैं। इस प्रकार संसार में स्वभाव से ही पवित्र (सन्मार्गगामी) व्यक्तियों का मिलना दुर्लभ है। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण जगत् के प्राणी दण्ड के भय से ही कर्तव्यपालन और उसके फलस्वरूप सुख भोग करते हैं। अतः दण्ड का भय अत्यावश्यक है। यदि दण्ड का भय न हो तो लोग दुराचारी होंगे तथा विश्व में उपद्रव की स्थिति होगी। समाज में शान्ति की स्थापना हेतु दण्ड का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है। दण्ड का भय न होने से कोई भी नियमों का पालन नहीं करेगा। समाज की स्थिति अत्यन्त भयावह हो जाएगी तथा सभ्य व्यक्तियों का जीना मुश्किल हो जाएगा, समस्त संसार में उपद्रव फैल जाएगा। अतः ऐसी स्थिति से बचने के लिए दण्ड ही एकमात्र उपाय है-

''दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिधेरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विश्रमात्।।''[15]

अर्थात् दण्ड का भय न होने पर सभी वर्णों के लोग दुराचारी बन सकते हैं। नियमों का पालन करने वाले सभी सेतु टूट सकते हैं और सारे संसार में उपद्रव फैल सकता है। दण्ड ही एकमात्र निवारक तथा नियामक है। इसी प्रकार मनुस्मृति में यह भी वर्णित है कि राजा अकेले राजकार्य नहीं सम्भाल सकता। अतः उसे शास्त्रों के जानकार, शूरवीर, सफल लक्ष्यभेदी सात से आठ व्यक्तियों को अपना सचिव नियुक्त करना चाहिए जिससे राजकार्य सुगमतापूर्वक सम्पन्न हो सकें-

''मौलाञ् छास्त्रविदः शूरल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान।
सविचान्सप्त चाण्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षीतवान।।''[16]

अर्थात् राजा को मूल परम्परा से सेवारत, शास्त्रवेत्ता, शूरवीर, सफल, लक्ष्यभेदी श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न और परीक्षा में खरे उतरे सात-आठ व्यक्तियों को सचिव पद पर नियुक्त करना चाहिए।

राजा को मित्रों के साथ सरल एवं सौहार्दपूर्वक व्यवहार करना चाहिए तथा ब्राह्मणों के साथ उदार शील होना चाहिए। ब्राह्मणों के प्रति राजा को क्षमा का भाव रखना चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के निर्देशन में रहकर कार्य करना चाहिए-

''ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविधवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तासां च शासने।।''[17]

अर्थात् राजा को प्रातःकाल उठकर तीनों वेदों (ऋग्युजुसाम) में निष्णात वृद्ध (ज्ञान और आयु में) विद्वान ब्राह्मणों की सेवा में उपस्थित होना चाहिए और उनके शासन (निर्देश पालन) में रहकर राज कार्य का संचालन करना चाहिए।

राजा के निवास स्थान के सम्बन्ध में मनुस्मृति में उल्लेख है कि राजा को ऐसे स्थान को अपनी राजधानी बनानी चाहिए जो हरी-भरी हो, विस्तृत हो जहाँ धन, धान्य एवं जल की कमी न हो, जहाँ का परिवेश सुन्दर हो तथा आजीविका के सभी साधन सुलभ हों-

''जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलभ्।
रम्यमानत सामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्।।''[18]

अर्थात् राजा को ऐसे देश में रहना चाहिए जिसके चारों ओर जंगल हो अर्थात् नगर अत्यन्त विस्तृत हो, जहाँ की धरती हरी-भरी तथा धन-धान्य से सम्पन्न हो, पानी की प्रचुरता हो और परिवेश भी सुन्दर हो, जहाँ के निवासी शिष्ट आर्यपुरुष हों जहाँ किसी भी प्रकार के रोग की आशंका न हो तथा जहाँ आजीविका के अनेक साधन सुलभ हों। ऐसे स्थान पर ही राजा को अपना निवास अर्थात् राजधानी बनानी चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार राजा को दण्ड को मंत्री के अधीन करना चाहिए तथा अपने पास कोश तथा राष्ट्र रक्षा का कार्य रखना चाहिए-

''अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रं च दूते सन्धिविपर्ययौ।।''[19]

अर्थात् दण्ड मंत्री के अधीन होता है और सुशिक्षा दण्ड के अधीन रहती है। अभिप्राय यह है कि लोग दण्ड के भय से सदाचरण करते हैं। दण्ड देने का कार्य मंत्री को सौंपना चाहिए। राजा को अपने पास कोश और राष्ट्र की रक्षा का कार्य रखना चाहिए और विदेश विभाग, पड़ोसी राजाओं से सन्धि-विग्रह मूलक सम्बन्धों को रखना आदि कार्य दूत को सौंप देना चाहिए।

राजा को विनयशील होना चाहिए, क्योंकि विनय रहित होने के कारण ही अनेक राजा जो साधन सम्पन्न थे नष्ट हो गए इसके विपरीत साधन हीन राजाओं ने भी विनय से अपना नष्ट राज्य प्राप्त किया है। अतः राजा को विनयशील होना अनिवार्य है। राजा की शिक्षा के सम्बन्ध में मनुस्मृति में कहा गया है कि-

''त्रिविद्येभ्यस्त्रयी विद्यां दण्ड नीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः।।''[20]

अर्थात् राजा को वेद, विद्यां के पण्डितों से वेदों का ज्ञान, सनातन दण्डनीति, तर्कशास्त्र तथा वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण से लोक व्यवहार संस्कार में रहते हुए किसके साथ किस स्थिति में कैसा बर्ताव करना चाहिए, इसकी शिक्षा लेना चाहिए। राजा को इन्द्रियों को वश में करने वाला होना चाहिए क्योंकि वही राजा प्रजा को वश में करने में समर्थ होता है। राजा को लोभी नहीं होना चाहिए, लोभी राजा प्रजा के कल्याण से ज्यादा अपना लाभ और स्वार्थ सिद्ध करेगा जिससे प्रजा का कल्याण न होगा बल्कि प्रजा त्रस्त रहेगी। श्रेष्ठ राजा के लक्षण बताते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि-

''वकवच्चिन्तयेदर्शान् सिंहवच्च पराक्रमेत्
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।।''[21]

अर्थात् राजा को बगुले के समान धन की चिन्ता, सिंह के समान पराक्रम करने वाला, भेड़िए के समान निर्मम हत्या करने वाला और खरगोश के समान भागने वाला होना चाहिए। राजा को अज्ञानी तथा विवेकहीन नहीं होना चाहिए-

''मोहाद्राजा स्वराष्ट्रां यः कषन्यत्यनवेक्षया।
सोऽचिदभृश्यचते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः।।''[22]

अर्थात् अज्ञानवश अपनी प्रजा को दुःख देने वाला विवेकहीन राजा शीघ्र ही बन्धु-बान्धवों के साथ राज्य और जीवन से हाथ धो बैठता है। इसी प्रकार मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि राजा को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए तथा शत्रुओं के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए, अर्थात् विरोधियों की हत्या कर देनी चाहिए-

''यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नपोराष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः।।''[23]

अर्थात् प्रकार खेतिहर धान्य की रक्षा करता है और खरपतवार उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार राजा को राष्ट्र की रक्षा और विरोधियों की हत्या करनी चाहिए।

अतः मनुस्मृति में बताए गए राजधर्म सम्बन्धी विचार प्रत्येक युग में प्रासंगिक है क्योंकि प्रजा के हित एवं कल्याण से ही शासन व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित होती है। राजा एवं प्रजा के मध्य संबंध मधुर बने रहना ही आदर्श शासन व्यवस्था का परिचायक है। मनुस्मृति के माध्यम से मनु ने एक ऐसी शासन व्यवस्था का विचार प्रस्तुत किया है जो प्रत्येक युग में अपनाये जाने योग्य एवं उपयोगी सिद्ध होती है। राजधर्म के माध्यम से राजा को निर्भीक विनयशील, परोपकारी, बुद्धिमान, पराक्रमी आदि गुणों से सम्पन्न होने की बात कही गयी है। अतः जब राजा ही सर्वगुण सम्पन्न होगा तो प्रजा तो अवश्य ही उसका अनुसरण करेगी जिससे समाज में शान्ति, प्रेम आदि का समावेश होगा। अतः मनुस्मृति में राजधर्म विषय प्रत्येक युग के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होता है।

संदर्भ

1. गौतम धर्मसूत्र - 1/1
2. याज्ञवलक्य स्मृति - 1/7
3. काणे पी0वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ0 40 धर्मशास्त्र संग्रह, भाग- 2, पृ0 3, आमुख
4. मनुस्मति 2/10
5. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 3
6. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 4
7. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 11
8. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 13
9. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 14
10. ऋग्वेद, 1/80/16, 1/114/2, 2/33/13
11. कौटिल्य - 1-4, मनुस्मति 7/101
12. महाभारत, शान्तिपर्व 21/12
13. महाभारत, शान्तिपर्व 57/13
14. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 22
15. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 24
16. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 54
17. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 37
18. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 69
19. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 65
20. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 43
21. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 106
22. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 111
23. मनुस्मति सप्तम अध्याय, श्लोक - 110

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ के आदर्श की प्रासंगिकता

डॉ0 राममूर्ति पाठक
एसोसिएट प्रोफेसर (दर्शनशास्त्र),
इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद

I

भारतीय संस्कृति विश्व की एक प्रतिष्ठित एवं वैशिष्ट्यपरक संस्कृति है। इसे सनातन संस्कति के रूप में पहचान प्राप्त है। यह प्राचीन आदर्शों को समेटे हुए नवीन आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों को आत्मसात् करती हुई निरन्तर प्रवहमान है। प्रारम्भ से ही इसका एक उदात्त, उदार, सहिष्णु एवं सामासिक चेहरा रहा है। इसी कारण यह अनेक झंझावतों को सहन करती हुई निरन्तर आगे बढ़ती रही है। विश्व की प्रत्येक संस्कृति विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों की पैदाइस होती है और उसमें विकसित सांस्कृतिक आदर्श एवं जीवन-मूल्य उसकी आवश्यकता और प्राथमिकता हुआ करते हैं। तात्पर्य यह है कि विश्व की विभिन्न संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न भौगोलिक परिवेशों में उत्पन्न होती हैं और उनमें उन भौगोलिक परिवेशों की प्राथमिकता और आवश्यकता परिलक्षित होती है। पुनः, देश-काल-परिस्थिति सापेक्ष प्राथमिकताएं बदलने पर उनके जीवन-मूल्यों में भी परिवर्तन आते हैं। भारतीय संस्कृति भी इसका अपवाद नहीं है। भारत के विशिष्ट भौगोलिक परिवेश में इसका आविर्भाव हुआ। भारत में आर्यों के आगमन के साथ आर्येतर जातियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वह भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। यह संस्कृति प्रारम्भ से ही सामासिक एवं समन्वयशील रही है और इसका क्रमशः विस्तार हुआ है। इस संस्कृति में समन्वयन एवं नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता रही है। इसी प्रवृत्ति ने भारतीय संस्कति को जीवन्त एवं गतिशील बनाए रखा।

स्पष्ट है कि भारत का एक वैविध्यपूर्ण भौगोलिक परिवेश है जिसमें एक वैविध्यपूर्ण भारतीय समाज अस्तित्व में आया। भारत का भौगोलिक परिवेश उत्तर में हिमालय की उत्तुंग चोटियों से घिरा है तो पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में समुद्र से घिरा है। यह भौगोलिक परिवेश विश्व मानचित्र पर इसे एक विशिष्ट पहचान देता है। पुनः, इसका आन्तरिक भू-भाग भी वैविध्यपूर्ण है। उत्तर-पश्चिम, उत्तर एवं उत्तर-पूर्व में ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं तो मध्य भाग में विन्ध्य, अरावली और सतपुड़ा की पहाडियाँ हैं। पश्चिमी और पूर्वी किनारे पर क्रमशः पश्चिमी घाट एवं पूर्वी घाट की पर्वतमालाएँ हैं। इसके मध्य भाग में कहीं रेगिस्तानी मैदान है तो गंगा-यमुना, कृष्णा-कावेरी, गोदावरी-नर्मदा तथा ब्रह्मपुत्र के हरे-भरे मैदान भी हैं। इस वैविध्यपूर्ण भौगोलिक परिवेश में वैविध्यपूर्ण जीवन-पद्धतियाँ दष्टिगोचर होती हैं। यहाँ नस्लीय, जातीय, भाषायी एवं धार्मिक विविधताएं अन्य महत्वपूर्ण तथ्य हैं। उपरोक्त विशिष्ट परिवेश में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'सर्वे सन्तु सुखिनः' के आदर्श एवं जीवन-मूल्य से आप्लावित भारतीय संस्कृति का आविर्भाव हुआ। निस्सन्देह, उदारता, सहिष्णुता और अहिंसा से प्रभावित हिन्दू जीवन-पद्धति ने भारत का निर्माण किया। इस पर यहूदी, पारसीक, इस्लाम, ईसाइयत धर्मों के साथ पाश्चात्य समाज की जीवन-पद्धति जैसी बाह्य शक्तियों का भी प्रभाव पड़ा। प्राचीन काल में पारसीक, यवन, शक, पह्लव, कुषाण और हूण आदि जातियाँ भी भारत में आयीं। ये सभी जातियाँ भी भारतीय समाज में घुल-मिल गयीं तथा आर्य एवं आर्येतर जातियों के मिलन से अस्तित्व में आयी भारतीय संस्कृति का हिस्सा बन गयीं। इन बाह्य शक्तियों ने भी भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया।

उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन ने भी भारतीय संस्कति को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति का उसके दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्पष्ट है कि यदि एक ओर दर्शनशास्त्र की गणना

किसी समाज की सांस्कृतिक उपलब्धियों के अन्तर्गत होती है तो वहीं दूसरी ओर उसका दार्शनिक चिन्तन उस संस्कृति में स्थापित जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों को तार्किक और बौद्धिक आधार पर स्थापित करता है। उपरोक्त वैविध्यपूर्ण भारतीय संस्कति में स्थापित जीवन-मूल्यों की निरन्तरता बनाये रखने के लिए एक ऐसे जीवन-दर्शन की आवश्यकता थी जो सबके अनुकूल हो। भारतीय ऋषियों, सन्तों, विचारकों एवं दार्शनिकों ने इसी परिप्रेक्ष्य में पुरुषार्थ के जीवन-दर्शन की अवधारणा सामने रखी। यह एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है, कामना है तो साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है और भौतिकता है तो आध्यात्मिकता भी है।

भारतीय विचारक महान दूरद्रष्टा रहे हैं। उनके लिए दार्शनिक चिन्तन मात्र बुद्धि-विलास या बाल की खाल निकलना नहीं रहा है। उनके बौद्धिक चिन्तन का लक्ष्य जीवन की समस्याओं का समाधान करना एवं अच्छे जीवन की रूपरेखा तय करना रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने मानव जीवन का साध्य भी सुनिश्चित किया और उसकी प्राप्ति की कार्य-योजना और क्रिया-विधि भी निर्धारित किया। उनकी दृष्टि में जीवन का साध्य है-पुरुषार्थ-सिद्धि अर्थात् जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि। इन्हें जीवन का चार स्तम्भ (Four Pillars) कह सकते हैं। भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए कार्य-योजना (Action Plan) और दिशा-निर्देश (Road map) भी प्रस्तुत किया। इसकी क्रिया-विधि (Mechanism) आश्रम-धर्म और वर्ण-धर्म के अनुरूप जीवन-यापन की है और यह भी नैतिक अनुशासन से ओतप्रोत है। यद्यपि आश्रम-धर्म वैयक्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है और वर्ण-धर्म सामाजिक दृष्टि से, किन्तु इनमें पूर्ण अलगाव नहीं है। भारतीय विचारकों की दृष्टि में व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन में अवियोज्य सम्बन्ध है। आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति की वैयक्तिक उन्नति की व्यवस्था की गयी और स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था के निर्माण पर बल दिया गया। वर्णव्यवस्था द्वारा मूलतः सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा तय की गयी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की पात्रता और योग्यता के आधार पर कार्य-विभाजन किया गया। इसके द्वारा ऐसी सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की गयी जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिक उन्नति के साथ स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होती है।

II

पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ है, 'पुरुष का अभीष्ट'[1]। पुरुषार्थ चार हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिनके समूह को 'चतुर्वर्ग' के नाम से जानते हैं। भारतीय शास्त्रकारों ने इनमें भी मोक्ष को पारलौकिक आदर्श मानकर इसे 'परम पुरुषार्थ' (Summum Bonum) की श्रेणी में रखा है। उन्होंने इस लौकिक जीवन में धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) की व्यवस्था किया है। यहाँ केवल इन पुरुषार्थों के, विशेषतया त्रिवर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का विवेचन है, इनकी विस्तृत व्याख्या से परहेज किया गया है। भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में मोक्ष के आदर्श का सर्वातिशायी महत्व है। यहाँ इसकी दो अवधारणाएँ मिलती हैं। प्रथम अर्थ में मोक्ष दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[2] इस अर्थ में मोक्ष एक अभावात्मक आदर्श है। द्वितीय अर्थ में मोक्ष आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के साथ आनन्द प्राप्ति की भी अवस्था है। इस अर्थ में मोक्ष एक भावात्मक आदर्श है। भारतीय दर्शन के कतिपय सम्प्रदायों में इसे अभावात्मक आदर्श स्वीकार किया गया है तो कुछ सम्प्रदायों में इसकी अवधारणा भावात्मक आदर्श के रूप में मिलती है। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का भी विधान करते हैं। मोक्ष हेतु बताए गये उपायों में व्यक्ति से संयमी जीवन जीने की अपेक्षा की गयी है।

त्रिवर्ग के अन्तर्गत धर्म पुरुषार्थ का सर्वातिशायी स्थान है। धर्मशास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों में प्राप्त धर्म का अर्थ जीवन में उसके आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक महत्व का प्रमाण है। वास्तव में

धर्म-अधर्म-विमर्श (कर्तव्य-अकर्तव्य-विमर्श) एक दुरूह विषय है। विदित हो कि भारतीय दर्शन में धर्म एक उदात्त अवधारणा है जो प्रायः कर्तव्य का बोधक है। मानव का कर्तव्य क्या है? अकर्तव्य क्या है? इसका निर्धारण कठिन है। जब भगवान कृष्ण धृतराष्ट्र की राज-सभा में शान्तिदूत होकर पहुंचते हैं और दुर्योधन को कर्तव्य (धर्म) का बोध कराने का प्रयास करते हैं तो वह कहता है कि 'हे केशव! मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है? किन्तु इसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है? किन्तु मेरी इससे निवृत्ति नहीं होती।[3] इसके बावजूद भारतीय शास्त्रकार मानते हैं कि धर्म पारलौकिक और लौकिक उन्नति (निःश्रेयस और अभ्युदय की सिद्धि) का आधार है।[4] बाल्मीकि भी धर्म के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि धर्म से अर्थ प्राप्त होता है। धर्म से सुख उत्पन्न होता है। मनुष्य धर्म से ही सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस संसार में धर्म ही सार है।[5] धर्म का व्यक्ति के लिये कितना महत्व है? इसका परिचय मनु के निम्नलिखित दृष्टिकोण से मिलता हैः 'परलोक में माँ, बाप, स्त्री, पुत्र, परिजन, सहायता करने वाला कोई नहीं होता। वहाँ केवल धर्म ही सहायक होता है। अतः यत्नपूर्वक धर्म का संचय करना चाहिये। व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। वह अकेले ही शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल भोगता है। बान्धव लोग मृत शरीर को काष्ठ एवं ढेले के समान छोड़कर विमुख हो जाते हैं। केवल धर्म उसके साथ जाता है। अतः सहायता के लिये सदैव धर्म का ही संचय करना चाहिये। पुरुष धर्म की सहायता से घोर अन्धकार को पार करता है।[6] तात्पर्य यह है कि मानव की लौकिक और पारलौकिक उन्नति धर्म के सम्पादन, कर्तव्यों के सम्यक् निर्वहन से होती है।

भारतीय व्यवस्थाकार इस भौतिक जगत् में व्यक्ति के वर्तमान जीवन की वास्तविकताओं, आवश्यकताओं और अभीष्ट से परिचित हैं। वे व्यक्ति की लौकिक उन्नति के द्वारा उसकी पारलौकिक उन्नति का मार्ग खोजते हैं। इस कारण इस जीवन में सुखोपभोग और उसके साधन के रूप में काम और अर्थ की पूर्ति को आवश्यक मानते हैं। ध्यातव्य है कि भारतीय विचारक महान मनोवैज्ञानिक भी रहे हैं। वे जानते थे कि मानव में सुखोपभोग की कामना होती है, उसकी शारीरिक और भौतिक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी असन्तुष्टि और अपूर्ति व्यक्ति में मानसिक विकृति को जन्म दे सकती है। अतः उन्होंने गृहस्थाश्रम की व्यवस्था करके उनकी सम्यक् आपूर्ति का विधान किया। वे यह भी जानते थे कि सांसारिक जीवन से सन्तुष्ट होकर ही व्यक्ति क्रमशः वानप्रस्थी एवं संन्यासी जीवन के द्वारा पारलौकिक साध्य को प्राप्त कर सकता है। ऐसा न होने पर उसके नैतिक पतन की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। सांसारिक जीवन जिए बिना इससे अलिप्त होने की भावना नहीं उत्पन्न होती। इसीलिये विभिन्न शास्त्रों में अर्थ और काम के बाद ही मोक्ष की व्यवस्था की गयी है। पुनः, यदि व्यक्ति के यौन सुख और अन्य भौतिक सुखों का निषेध किया जाता तो वह अनुचित तरीके से चोरी-छिपे इनकी सन्तुष्टि का प्रयास करके समाज में अनैतिकता और भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे सकता था।

अर्थ और काम व्यक्ति की स्वाभाविक सांसारिक प्रवृत्तियाँ हैं। भारतीय संस्कृति में अर्थ का व्यापक अर्थ है। इससे तात्पर्य केवल धन-सम्पत्ति से नहीं है। इसमें धन-सम्पत्ति के साथ ऐसे सभी साधन आते हैं जो मनुष्य की कामना-पूर्ति में सहायक होते हैं तथा जिनके प्राप्त करने से इस जगत् में ऐहिक सत्ता स्थापित होती है। अर्थ का सम्बन्ध वार्ता और दण्डनीति दोनों से है। वार्ता आर्थिक क्रियाओं, अर्थात् सम्पत्ति के उत्पादन, परिरक्षण और परिवर्धन का द्योतक है, दण्डनीति राजशास्त्र है और उन नियमों का अध्ययन करती है जिनके द्वारा अर्थ के उपार्जन मे बाधक कारकों का निवारण होता है। भारतीय शास्त्रकार अर्थ की वांछनीयता को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार पानी के सभी स्रोतों का उद्भव पर्वतों से होता है उसी प्रकार मनुष्य के सभी कार्य अर्थ से उत्पन्न होते हैं[7]। अर्थ के

कारण व्यक्ति एवं समाज का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है। अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा है। अर्थ के बिना धर्म और काम की भी सिद्धि नहीं होती। वाल्मीकि का मत है कि धनवान व्यक्ति के ही मित्र होते हैं, उसी के पास भाई-बन्धु होते हैं। धनवान व्यक्ति ही इस जगत् में श्रेष्ठ पुरुष कहलाता है। उसी को विद्वान समझा जाता है। जिसके पास धन है वही पराक्रमी और बुद्धिमान है, वही भाग्यशाली और गुणवान है। सब कुछ धनवान व्यक्ति के ही अनुकूल होता है। निर्धन व्यक्ति पुरुषार्थ करने पर भी कुछ नहीं प्राप्त करता।[8] नीतिशतककार का भी स्पष्ट मत है कि सभी गुण स्वर्ण का आश्रय ग्रहण करते हैं।[9] अर्थात् धनी व्यक्ति को ही गुणवान माना जाता है। निर्धनता एवं दरिद्रता कितनी भयावह है, इसका जीवन्त चित्रण संस्कृत नाटक, 'मृच्छकटिकम्' में मिलता है। इस प्रकार भारतीय शास्त्र अर्थ की अपरिहार्यता के उल्लेखों से भरे पड़े हैं।

मानव के लौकिक जीवन से सम्बद्ध अन्य पुरुषार्थ 'काम' है। काम एक पारिभाषिक पद है। हम जिन भोग्य पदार्थों की कामना करते हैं वह काम है। इसके अन्तर्गत स्त्री-पुरुष की यौन-सन्तुष्टि मात्र शामिल नहीं है। मनुष्य की सभी इच्छाओं या कामनाओं का समावेश काम में होता है। शास्त्रों में इसके उपभोग के लिये गृहस्थाश्रम की व्यवस्था की गयी है। भारतीय शास्त्रकारों ने काम को जैविकीय, सामाजिक और धार्मिक आधार पर स्वीकार किया है। अर्थ और काम की वांछनीयता केवल वैयक्तिक जीवन के लिये ही नहीं, सामाजिक जीवन के लिये भी स्वीकार की गयी है। काम के कारण ही संसार-चक्र परिचालित होता है। जिसके अन्दर कामना नहीं है, उसे न तो धन कमाने की इच्छा होती है, न धर्माचरण की। यदि काम नष्ट हो जाय तो संसार का ह्रास हो जायेगा।[10] ऋषिजन, कोई न केाई कामना रखकर ही कठोर तपस्या करते हैं। पुनः, काम की अतृप्ति होने पर मनुष्य में ग्रन्थि, तनाव, आक्रोश एवं क्रोध का बीजारोपण होता है जिससे उसका विकास अवरुद्ध होता है।

त्रिवर्ग में भी श्रेणीबद्धता है। शास्त्रकार त्रिवर्ग में धर्म को प्रधान, अर्थ को मध्यम और काम को निम्न पुरुषार्थ कहते हैं।[11] वात्स्यायन की दृष्टि में भी काम से अर्थ और अर्थ से धर्म श्रेष्ठ पुरुषार्थ है।[12] तात्पर्य यह है कि क्रमिक महत्व की दृष्टि से धर्म सर्वोच्च एवं काम निम्नस्तरीय है। त्रिवर्ग के सेवन का वैयक्तिक एवं सामाजिक महत्व है। इससे व्यक्ति का अपना जीवन मर्यादित होता है और वह उच्छृंखल होने से बचता है। इससे समाज में चारों ओर ऐसा परिवेश निर्मित होता है जिसमें व्यक्ति गुणोत्कर्ष और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है। पुनः, इसका उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित, सुसंघटित आधार पर संगठित करना एवं व्यक्ति के सुखपूर्ण समन्वयात्मक जीवन का निर्माण करना है।

यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय मनीषी जीवन में अर्थ और काम की वांछनीयता को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु इनके अतिरेक सेवन को निषिद्ध करते हैं। वास्तव में वे अर्थ और काम पर धर्म के नियंत्रण का विधान करते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म वह साधन है जो अर्थ और काम को मर्यादित करके मोक्ष की ओर अग्रसर करता है क्योंकि धर्म को ही अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का साधन माना गया है। भारतीय शास्त्रकार त्रिवर्ग के समन्वय पर बल देते हैं। मनु कहते हैं कि 'कुछ लोग धर्म और अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं, कुछ काम और अर्थ को, कुछ लोग केवल धर्म को, तो अन्य लोग केवल अर्थ को कल्याणकारी मानते हैं। किन्तु वस्तुतः यह त्रिवर्ग ही श्रेयस्कर है।[13] वामन पुराण तो पुरुषार्थ को सदाचार रूपी वृक्ष मानता है जिसकी जड़ धर्म है, इसकी शाखा अर्थ है, काम इसका पुष्प है और मोक्ष इसका फल है।[14]

भारतीय शास्त्रकारों की दृष्टि में काम की अतिरेकता सर्वाधिक भयावह और अनर्थकारी है। वास्तव में काम इस जगत् में मानव की मूलभूत और प्रथम प्रवृत्ति है और अर्थ इस प्रवृत्ति की तृप्ति का साधन है। इस कारण काम की अतिरेकता अर्थार्जन की अतिरेकता का कारण बन सकती है।

भारतीय विचारक कई बातों पर बल देते हैं। प्रथम, जो कामातिरेक से पीडित़ है उसे न तो भय होता है और न लज्जा।[15] अतः वह इसकी तृप्ति के लिये कोई भी अनुचित साधन अपना सकता है क्योंकि इसकी दृष्टि में साध्य साधन के औचित्य का प्रमाण है। द्वितीय, भारतीय विचारकों की दृष्टि में इच्छाओं की तृप्ति से इच्छाएं शान्त नहीं होतीं। जिस प्रकार आग में घी डालने से उसकी ज्वाला भड़कती है उसी प्रकार इच्छाओं की तृप्ति इच्छाओं की ज्वाला को भड़का देती है।[16] तृतीय, काम की अतृप्ति क्रोध को जन्म देती है जो सर्वनाश का कारण बनता है। भगवद़ीता सकाम भाव से किये गये कार्यों के दुष्परिणामों को रेखांकित करती है, क्योंकि विषयासक्ति से अवगुणों की उत्पत्ति होती है और मानव का अधःपतन होता है। गीता की मान्यता है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की इन विषयों में आसक्ति होती है। विषयों से काम (उन विषयों की इच्छा) उत्पन्न होती है। इस सन्दर्भ में विघ्न क्रोध उत्पन्न करता है। क्रोध से मूढ भावना उत्पन्न होती है और मूढ़भावना से स्मृति-विभ्रम उत्पन्न होती है। स्मृति-विभ्रम से व्यक्ति की बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है।[17] तात्पर्य यह है कि अतिरेक विषयासक्ति (उद्दाम काम) कामी के लिये ही सर्वाधिक भयावह होती है। वह अलगाव का शिकार होकर अपने व्यक्तित्व का ही विनाश कर डालता है। इसी कारण गीता व्यक्ति का आह्वान करती है कि वह निष्काम भाव से अपने कार्य का सम्पादन करे। गीता की दृष्टि में व्यक्ति का अधिकार कर्म करने में है, उसके फल में नहीं।[18]

भारतीय संस्कृति काम एवं इससे उत्पन्न क्रोध को जीवन यात्रा में सर्वाधिक बाधक तत्व मानती है। व्यक्ति काम से प्रेरित होकर यह समझता है कि यह जगत्, जागतिक पदार्थ एवं इनके भोग वास्तविक हैं और उसके लिये हैं। किन्तु इनकी अप्राप्ति से उत्पन्न क्रोध सब कुछ नष्ट कर देता है। अध्यात्म रामायण में श्रीराम राज्याभिषेक बाधित होने पर माँ कैकेयी पर क्रोधित लक्ष्मण को स्वयं समझाते हुए कहते हैं कि काम, क्रोध, आदि मानव मुक्ति में सबसे बड़े शत्रु हैं।[19] भगवद़ीता की भी मान्यता है कि रजोगुण से उत्पन्न काम एवं क्रोध को शत्रु समझना चाहिये।[20]

उल्लेखनीय है कि इन धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त महाभारत, पुराण, स्मृतियां और सूत्र ग्रन्थ ऐसे कथनों से भरे पड़े हैं जो कामातिरेक की भयावहता की निन्दा करते हैं और धर्म के द्वारा इनके अनुशासन, धर्म विरोधी अर्थ एवं काम के परित्याग की बात करते हैं। इसी प्रकार अतिरेक धनार्जन की प्रवृत्ति व्यक्ति का प्रत्येक दृष्टि से अहित करती है क्योंकि वह उसके उचित-अनुचित-विवेक को कुन्द करती है। यह हकीकत है कि विवेक-च्युत व्यक्ति का सौ प्रकार से पतन होता है।[21]

उपरोक्त कारणों से भारतीय मनीषी धर्म संचालित अर्थ और काम के सेवन पर या त्रिवर्ग के समन्वित सेवन पर बल देते हैं। इसी कारण शास्त्रकारों ने एक स्वर से धर्मविरोधी अर्थ और काम के सेवन का निषेध किया है। मनु स्पष्ट कहते हैं कि व्यक्ति को उस अर्थ और काम का परित्याग कर देना चाहिये जो धर्म द्वारा निषिद्ध हो।[22] मत्स्य पुराण की भी मान्यता है कि धर्मविहीन मनुष्य की अर्थ और काम सम्बन्धी सभी क्रियाएँ बन्ध्यापुत्र के समान हैं।[23] कौटिल्य भी धर्मार्थ-विरोधी काम के सेवन का निषेध करते हैं।[24] अर्थात् वे धर्म और अर्थ को बाधा पहुँचाये बिना काम के सेवन का आदेश देते हैं।

तात्पर्य यह है कि भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति के लिये 'पुरुषार्थ' के रूप में एक ऐसे जीवन दर्शन की प्रस्तावना किया जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है, कामना है तो साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है, भौतिकता है तो आध्यात्मिकता भी है।

III

पुरुषार्थ का आदर्श सार्वकालिक है। इसकी मुख्य शिक्षा है कि संयमी जीवन व्यतीत करते हुए व्यक्ति अपनी वैयक्तिक एवं सामाजिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। वर्तमान काल में

इस आदर्श की प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी है। आज भारतीय समाज सामाजिक स्तर पर अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। समाज में बढ़ते हुए अपराधों के कारण व्यक्ति के जीने का अधिकार (Right to life) असुरक्षित हो चुका है। भारतीय समाज की आधी दुनियाँ (महिला वर्ग) अनेक समस्याओं से पीडित़ है। प्रतिदिन के अखबार, टी0वी0 के न्यूज़ चैनल स्त्री वर्ग के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों की खबर से भरे पड़े होते हैं। समाज में विभिन्न स्तरों पर स्त्रियों के प्रति हिंसक घटनाएँ दिखाई देती हैं। वे घरेलू हिंसा, यौन-हिंसा, दहेज के लिए हिंसा और कार्य-स्थल पर होने वाली हिंसा आदि का शिकार होती हैं। समाज में यौन अत्याचार, बलात्कार, सामूहिक बलात्कार की घटनाएँ दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ रही हैं। उल्लेखनीय है कि यौन-सन्तुष्टि व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है। समाज ने इसकी आपूर्ति-हेतु विवाह-संस्था का निर्माण किया है, किन्तु आज व्यक्ति परिवार-संस्था के बाहर भी यौन-सन्तुष्टि के लिये प्रयास करता है। वह समलैंगिक सम्बन्ध, Live in relationship, आदि की ओर अग्रसर हो रहा है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और निजता के वैयक्तिक अधिकार के नाम पर इसे जायज भी सिद्ध करना चाहता है और इसके पक्ष में कुतर्कों का जाल भी तैयार करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आज चार्वाक का सुखवादी नैतिक दर्शन, जो यह व्यवस्था करता है कि जब तक जियें सुख से जियें, उधार लेकर घी पिये (यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्) प्रतिष्ठा पा रहा है। यह वही विचारधारा है जिसके एक भी प्रामाणिक ग्रन्थ को भारतीय मनीषियों ने सुरक्षित रखना आवश्यक नहीं समझा था। कदाचित् इसका उद्देश्य था, आने वाली पीढ़ियों और समाज को पथ-भ्रष्ट होने से बचाना।

भारतीय समाज की एक अन्य गम्भीर समस्या, जो सामाजिक ताने-बाने पर गम्भीर आघात कर रही है, है-सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-प्रशासनिक भ्रष्टाचार। भ्रष्टाचार समाज के प्रत्येक स्तर तक व्याप्त है और सुरसा के मुख की तरह निरन्तर फैलता जा रहा है। उल्लेखनीय है कि भारतीय राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्था में इसका प्रवेश स्वतन्त्रता के पश्चात ही हुआ और इसका निरन्तर विस्तार होता गया। भारतीय राजनीति में यह एक मुद्दा बनकर 1986 ई. में उभरा। उस समय बोफोर्स घोटाला, जो 64 करोड़ रुपये का था, चर्चा के केन्द्र में आया। यह तब था जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने कहा था कि विकास के लिये छोड़े गये एक रुपये में यथास्थान केवल 15 पैसे पहुंचता है। यह मुद्दा केन्द्र की तब तक की सर्वाधिक सशक्त सरकार के पतन का कारण बनता है, किन्तु भ्रष्टाचार का यह मुद्दा 1990 के दशक में चारा घोटाला और अलकतरा घोटाले से होते हुए 21 वीं शती में 2 जी घोटाला, कोलगेट घोटाला में व्यापक आकार ग्रहण करता है। यूपीए 2 के शासनकाल के मध्य मे आयी 'कैग-रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि 2 जी और कोलगेट घोटाले क्रमशः 176000 करोड़ और 186000 करोड़ के थे। इससे इसकी भयावहता का अनुमान किया जा सकता है।

पुरुषार्थ के आदर्श के अनुरूप जीवन यापन करके आज भी भारतीय समाज की विसंगतियों का निवारण किया जा सकता है। पुरुषार्थ का आदर्श भारतीय समाज के लिए आन्तरिक नियोग (Internal Sanction) की भूमिका निभा सकता है। विदित हो कि भारतीय प्रशासनिक एवं राजनीतिक व्यवस्था ने भारतीय समाज की उपरोक्त समस्याओं के समाधान हेतु अनेक विधिक उपाय, बाह्य नियोग (External Sanction) किये, किन्तु ये बाह्य नियोग भी आज अप्रभावी हो रहे हैं। उपरोक्त विसंगतियाँ आज और भी तीव्र गति से विस्तारित हो रही हैं। आज भी पुरुषार्थ के आदर्श के अनुरूप भारतीयों को जीवन-यापन हेतु प्रेरित करके भारतीय समाज की समस्याओं को न्यूनतम किया जा सकता है या समाप्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः।
2. आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्।
3. जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः, सभापर्व, महाभारत।
4. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, वैशेषिक सूत्र, 1/2।
5. धर्मादर्थः प्रभवति, धर्मात् प्रभवते सुखम् । धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।।
   अरण्यकाण्ड, वाल्मीकि रामायण, 9/30।
6. नामूत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रद्वारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठतः।।
   एकः प्रजायते जन्तुरेकः एव विलीयते। एकोऽनुभुड्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ।।
   मृत्शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।।
   तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ।।
   मनुस्मृति, 239-42।
7. महाभारत, शान्तिपर्व, 8/13/15/47।
8. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, 83/35,36,38।
9. सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते, नीतिशतक, 33।
10. महाभारत, 12/167/29-40।
11. शान्तिपर्व, 167/8-9, अनुशासन पर्व, 124/35-36।
12. कामसूत्र, 1/2/7-15।
13. मनुस्मृति, 2/224।
14. वामन पुराण, 14/18-19।
15. कामातुराणां न भयं न लज्जा।
16. न जातु कामः कामानामुपाभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।
   मनुस्मृति, 2/94।
17. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
   क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्समृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।
   भगवद्गीता, 2/62-63।
18. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।
   भगवद्गीता, 2/47।
19. अध्यात्म रामायण, अयोध्या काण्ड, 4/34-37।
20. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
   महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।। भगवद्गीता, 3/36।
21. विवेकभ्रष्टानां तु भवति विनिपातः शतमुखः।
22. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मविवर्जितौ। मनुस्मृति, 4/176।
23. धर्महीनस्य कामार्थौ बन्ध्यासुतसमौ ध्रुवम्, मत्स्य पुराण, 241/48।
24. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्, अर्थशास्त्र, 17।

सन्त कबीर का मानवतावादी दृष्टिकोण

डॉ0 स्वाति सक्सेना
एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग,
डी0जी0 पी0जी0 कालेज, कानपुर

सन्त कबीर प्रथम यथार्थवादी दार्शनिक एवं कवि हैं। उनका व्यक्तित्व अद्‌भुत था। उन्होंने उस युग के समाज को अत्यन्त सूक्ष्मता से परखा था। आज हम जाति भेद, वर्ण भेद, रंग भेद आदि समस्याओं से जूझ रहे हैं जो हमारे सामाजिक विकास में बाधा पहुँचा रहे हैं। कबीर ने इन समस्याओं को उस युग में ही दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंनें बड़ी ही तत्परता से इतने बड़े समाज का अध्ययन किया, जबकि उनका पालन पोषण एक अत्यन्त निर्धन दलित परिवार में हुआ था।

कबीर की विचारधारा तत्कालीन असहिष्णु वातावरण के प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुई। मध्यकालीन विचारकों में सन्त कबीर का एक विशेष स्थान है। उस युग में इस्लाम अपना प्रभाव जमाता जा रहा था, परिणामस्वरूप अनेक पीड़ित निम्न-जातियाँ सामूहिक रूप से इस्लाम अपनाती जा रही थी, हिन्दू तथा मुस्लिम के बीच संघर्ष व्याप्त था। उन्होंने समाज में भेद-भाव विहीन सहज धर्म की प्रतिष्ठा की। वह धर्म को सभी बंधनों तथा आडम्बरों से मुक्त करके सर्वधर्म समभाव की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करते रहे। ताकि समाज में ऊँच-नीच, भेद-भाव आदि समाप्त हो सके तथा मानवतावादी विचारों की प्रतिष्ठापना हो सके। समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए तथा सभी मनुष्यों में प्रेम एवं भाई-चारे की भावना के विकास के लिए सन्त कबीर के विचार अत्यंत उपयोगी हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में मानवतावाद की सामान्य अवधारणा का अध्ययन करते हुए सन्त कबीर के मानवतावाद की चर्चा की गई है।

सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए 'मानवतावाद' एक विचारधारा के रूप में आधुनिक अवधारणा है। मानवतावादियों ने मानवोपरि दिव्य सत्ता का निषेध किया तथा मनुष्य को सभी नैतिक मूल्यों का आधार माना। मानवतावादियों के अनुसार मनुष्य की पाश्विक एवं दिव्य वृत्ति के मध्य कुछ ऐसा है जो पूर्णतः मानवीय है और उसी को नैतिकता, कला, कौशल, सौन्दर्य बोध लोक विश्वास आचार-विचार का प्रतिमान कहना चाहिए। मानव में यदि मानवता नहीं है तो मनुष्य जीवन व्यर्थ है। मानव में परस्पर जियो और जीने दो की भावना निहित होना चाहिए तथा वह सभी स्तरों में पूर्ण स्वतंत्र होते हुए किसी अन्य के नैतिक अधिकारों का हनन न करें। सभी मनुष्यों को विकास करने का पूर्ण अधिकार है, हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य मनुष्यों के विकास में बाधा न पहुँचे, किन्तु आज मनुष्य का आचरण ऐसा है कि वह मनुष्य बने रहना नहीं चाहता बल्कि पशुता के स्तर पर उतर आता है। मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि में अन्य मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करता है तथा अनुचित मार्ग को अपनाने में भी संकोच नहीं करता। यही कारण है कि सन्तों ने हमें बार-बार जागृत करके उचित मार्ग दिखाने का प्रयास किया।

सन्तों का दृष्टिकोण मानवतावादी था, उनके द्वारा किये गये सुधार का लक्ष्य मानव ही था। वह शास्त्रों, धार्मिक संकीर्णता एवं बाह्याचारों आदि का विरोध केवल इसलिए करते थे ताकि मनुष्य, मनुष्य से जुड़ सके। शास्त्रों का विरोध करना आसान कार्य नहीं है इसके लिए उन्हें अधिक विरोधों का सामना करना पड़ा किन्तु फिर भी शान्ति एवं मानवतावाद की प्रतिष्ठा हेतु उन्होंने कटु विरोध का सामना किया।

सन्त कबीर ने मानवतावाद की प्रतिष्ठा हेतु जहाँ-जहाँ मानव में पारस्परिक संघर्ष देखे वहाँ-वहाँ विरोध किया। उन्होंने सभी क्षेत्रों में एकता की स्थापना करने का प्रयास किया चाहे वह

सामाजिक हो, सांस्कृति हो, राजनैतिक हो अथवा धार्मिक हो। कबीर ने सभी प्रकार के भेदों को नष्ट करने का प्रयास किया। उनका मत है कि सभी मनुष्यों का जन्म एक समान रूप से होता है। मनुष्य कोई भी विशिष्ट चिन्ह या पहचान लेकर जन्म नहीं लेता है जिससे यह पता लगे कि वह किस धर्म का है। जब मनुष्यों में ईश्वर ने कोई भेद नहीं किया तो मनुष्य ने स्वयं क्यों यह भेद उत्पन्न किया?

एकै पवन एक ही पांनी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा।।''[1]

कबीर के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी एक ही मिट्टी से बने हैं। उसी एक मिट्टी के नाम अलग-अलग हैं।

माटी एक सकल संसारा, बहु बिधि भांडे घड़ै कुँभारा।[2]

इसी प्रकार अन्य स्थान पर सभी प्राणियों में एकात्म भाव की प्रतिष्ठा करते हुए कबीर कहते हैं कि सभी प्राणी पंचतत्त्वों के मिश्रण से बने हैं, सबका मिट्टी का शरीर एक जैसा है। अलग-अलग नाम रख लेने से हम उसमें भेद नहीं कर सकते, क्योंकि सबमें एक ही आत्मा व्याप्त है-

''माटी एक भेख धरि नानां, तामैं ब्रह्म समाना।''[3]

मध्यकालीन समाज में जाति भेद चरमोत्कर्ष पर था। हिन्दू मुस्लिम परस्पर संघर्ष तथा अमानवीय व्यवहार कर रहे थे। अतः ऐसी अव्यवस्था को देखकर ही सन्त कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान को समझाते हुए कहा है कि धर्म को लेकर संघर्ष नहीं करना चाहिए, राम-रहीम में कोई भेद नहीं है।

''हंमारै रांम रहीम करीमा केसो, अलह रांम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।''[4]

कबीर ने सगुण साकार अवतारी ब्रह्म को अस्वीकार किया वह निर्गुण निराकार ब्रह्म की भक्ति करने पर बल देते हुए कहते हैं कि-

''अलख निरंजन लखै न कोई। जे बंधे बंधा सब लोई।।''[5]

वह कहते हैं कि जो सभी को एक सूत्र में बाँधने वाला है उसे कोई नहीं देख पाता है। कबीर के युग में हिन्दू तथा मुसलमानों में विरोध एवं संघर्ष था- उन्होंने हिन्दू मुस्लिम के बीच के विरोध को दूर करने के लिए खण्डनात्मक एवं मण्डनात्मक दो शैलियाँ अपनायी। खण्डनात्मक शैली के अन्तर्गत उन्होंने धर्म के प्रति रोष व्यक्त किया तथा धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया जिसके कारण समाज की तीव्र प्रतिक्रिया का सामना भी करना पड़ा। उनका विचार था कि हिन्दू मुस्लिम दोनों ही अपने धर्म के नाम पर मिथ्या बातों को बढ़ावा दे रहे हैं। कबीर के मतानुसार-

''पंडित मुल्ला जो लिख दिया, छांड़ि चले हम कछु न लिया।''[6]

उनके अनुसार हमारे सम्मुख जो धर्म है वह वास्तविक धर्म न होकर उसका विकृत रूप है। धर्मों का बाह्याडम्बर ही उसका वास्तविक रूप छिपा लेता है जिसके कारण एक धर्म दूसरे धर्म से भिन्न प्रतीत होता है। वास्तव में सभी धर्म एक ही शिक्षा देते हैं और वह है मानव कल्याण। सभी धर्मों में मानवतावादी विचार प्रचुर मात्रा में है किन्तु बाह्याडम्बर धर्म की इस अच्छाई को हमारे सम्मुख आने नहीं देते। धर्मों में अनावश्यक दिखावा और कर्मकाण्ड ही आडम्बर है जिसे कबीर ने नकारा है-

इनकै काजी मुलां पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाजा।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।[7]

वर्तमान प्रजातांत्रिक प्रणाली में राजनीति के कारण विभिन्न प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हुई है। जातिवाद, धार्मिकता, अधार्मिकता, भौतिक सुखों को पाने के लिए अमानवीय कृत्य आदि से समाज का विघटन हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में सुधार लाने का एकमात्र उपाय यही है कि सन्त कबीर

द्वारा बताये गये मानवीय मूल्यों तथा मानवतावादी विचारों को वर्तमान सन्दर्भ में उपयोग में लाया जाय। उनके विचार उस समय जितने प्रासंगिक थे, उससे भी अधिक आज उन विचारों की आवश्यकता है। कबीर के अनुसार मनुष्यों में प्रमुख मानवीय तत्व जैसे दया, करुणा, सहानुभूति, अहिंसा, सत्य आदि का होना आवश्यक है। मनुष्य में यदि यह तत्व व्याप्त होंगे तो अवश्य ही समाज से जातीय विषमता, आर्थिक शोषण तथा पारिवारिक विघटन- जैसी बुराइयों को दूर किया जा सकता है। जातीय विषमता से सदैव ही मानव के बीच भेद-भाव बना रहा है। निमन्जतियों को धार्मिक अधिकारों से वंचित तो रखा ही गया साथ ही छुआ-छूत का भी भेद-भाव रखा गया। आज निम्न जातियों के उत्थान हेतु काफी प्रयास किये जा चुके हैं किन्तु अभी भी वह पूर्ण समता को प्राप्त नहीं कर सके। यह समानता कबीर दर्शन से ही सम्भव है। उनके अनुसार ब्राह्मण तथा शूद्र सभी मनुष्य ही हैं सब एक ही परम ज्योति से उत्पन्न हैं तथा एक ही ईश्वर की संतान हैं-

''एक जोति थै सब उतपनां, कौंन बांम्हन कौंन सूदा।।''[8]

इसी प्रकार आर्थिक समानता भी मानवीय एकता के लिए अत्यावश्यक है। आर्थिक शोषण मानवतावाद का हनन है। उच्च वर्ग भोग विलास में समय व्यतीत करता है तथा निम्न वर्ग का शोषण करता है। कबीर के अनुसार उच्च वर्ग धन तथा विलासिता के मद में इतना डूब चुका है कि मृत्यु को बिल्कुल भूल गया है। संसारिक सुख क्षणिक है मृत्यु अथवा काल के पाश से कोई नहीं बच सकता-

''झूठे सुख कौ सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणा काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद।।''[9]

एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं कि लोग अपने धन तथा विलासितापूर्ण जीवन का दिखावा करते हैं। ऐसा लगता है जैसे कि उन्हें हमेशा यहीं रहना है-

''कबीर थोड़ा जीवना, भांड़ै बहुत मंड़ान।
सब ही ऊभा मल्हि गया, राव रंक सुल्तान।।''[10]

अर्थात् कबीर कहते हैं- जीवन अल्प है पर मनुष्य मंडप महल बनाता तथा सजाता है। ऐसा लगता है मानों यहीं रहना है। पर सच तो यह है कि राजा रंक सुल्तान सभी यह ऊँचा उठा हुआ मंडप (महल) आदि यहीं छोड़कर चले गये।

कबीर ने मानव के आदर्श रूप की कल्पना की तथा हरि और हरिजन को एक माना ताकि कोई भी मनुष्य परस्पर अमानवीय व्यवहार न कर सके। उन्होंने अद्वैतवाद के समान जीव तथा ब्रह्म के एकत्व की बात की है कबीर के अनुसार जीव ही ब्रह्म है जीव तथा ब्रह्म में वैसा ही अभेद है जैसे कि पानी की एक बूंद जो समुद्र में मिला दी जाय तो वह फिर से ढूँढ़ना असम्भव है, वैसे ही जब जीव तथा ब्रह्म का एकत्व होगा तब दोनों में कोई भेद नहीं रह जाएगा-

'हेरत-हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराई।
बूँद समानी समद में, सो कत हेरी जाई।।''[11]

कबीर के अनुसार सभी मनुष्यों के शरीर में परमात्मा का वास है, अर्थात् शक्ति का स्रोत हमारे भीतर ही है पर उसके प्रति हमारा विश्वास नहीं है। फलस्वरूप हम उसे बाह्य कर्मकाण्ड में ढूँढ़ते हैं अपने भीतर तो ढूँढ़ते ही नहीं है। यह भ्रम तथा भूल है मृग जैसी हमारी दशा है। उसकी नाभि में ही कस्तूरी है पर उसे उसका बोध नहीं है और उसकी सुगन्ध की खोज में वह दर-दर भटक रहा है-

''कबीर कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़े बन मांहि।
ऐसे घटि घटि राम है, दुनियाँ देखै नाहि।''[12]

मानवीय भेद को मिटाने के लिए कबीर का कहना है कि सभी प्राणी पंचमहाभूत से बने हैं तो उनमें भेद कैसा। भेद से मनुष्य में शत्रुता की भावना फैलती है जिससे संघर्ष बढ़ते हैं। कबीर के अनुसार हमें जाति पांति, धर्म, छुआछूत आदि का त्याग करने का प्रयास करना चाहिए तथा एक ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना करनी चहिए। उनके अनुसार-

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड में रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ।।''[13]

जब सभी मनुष्य धार्मिक दृष्टि से एक ही विचार रखेंगे तो परस्पर एकत्व तथा प्रेम की भावना का संचार होगा। उनके विचार आज भी अत्यंत उपयोगी हैं। महात्मा गाँधी के विचार भी संत कबीर के मानवतावादी विचारों से प्रभावित थे। इससे यह सिद्ध है कि कबीर के विचारों की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है। अतः समाज में व्याप्त कुरीतियों तथा अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिए सभी मनुष्यों में मानवतावादी भावना का विकास करना होगा। अब प्रश्न उठता है कि मानवतावादी भावना का विकास कैसे किया जाय? कबीर के अनुसार मानवतावादी भावना के लिए आन्तरिक शुद्धि का होना आवश्यक है। मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति क्षमाशील तथा दयावान रखनी होगी तभी आन्तरिक शुद्धता का विकास होगा। मनुष्य को सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखना होगा तथा दुःख पीड़ितों के प्रति करूणा का भाव रखना होगा। जिसके मन में ऐसी भावना होगी वह संसार को सुखी रखने का ही प्रयास करेगा। कबीर के अनुसार-

''जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप,
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप।।''[14]

दया, क्षमा, परोपकार आदि बुद्धि से सम्बन्धित है। बुद्धि द्वारा इन प्रवृत्तियों को अपनाने से ही मन शुद्ध होता है। मन अत्यंत चंचल होता है जिसे सर्वप्रथम संयमित करके अपने वश में करना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, विकार आदि मानवतावादी भावना के मार्ग में बाधक हैं। अतः इन विकारों से मुक्ति की बात कबीर ने कही है। उन्होंने तत्कालीन ब्राह्मणवाद का विरोध किया क्योंकि वह मानवता के मार्ग में बाधक बन रहा था। वेदों के जानने वाले कर्मकाण्डी बनकर अहंकारी हो गये थे तथा दूसरों को स्वयं से नीच समझते थे। कबीर ने असाधु (वेशधारी साधु) से सावधान रहने को कहा है। उन्होंने कहा है कि-

''कबीर जेता मीठा बोलणा, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊंड़ै देसी आंणि।।''[15]

अर्थात् असाधु मीठा-मीठा बोलकर ड्ढगते हैं, पहले तो आपको लाभ की बातें बताएंगे पर अन्त में विनष्ट कर देंगे- पहले थाह दिखाना फिर अवसर पाते ही गहरे पानी में लाकर डुबोना ही इनका कार्य है।

इसी प्रकार तत्कालीन समाज में परनारी के भोग के कारण समाज अत्यंत दूषित होता जा रहा था विभिन्न सम्प्रदायों में नारी के प्रवेश के कारण वातावरण कलुषित हो गया था। किन्तु उन्होंने शुद्ध नारी की निन्दा नहीं की है। कबीर के अनुसार हमें सत्पुरुष बनकर वासनाओं का त्याग करना है क्योंकि वासना ही बुराई की ओर ले जाती है। कबीर के अनुसार हमें अपने मन को वश में करना है। मन को वश में करने के लिए उसे अपना मित्र बना लें तो सारी समस्या स्वतः ही हल हो जायेगी। वह कहते हैं कि मन पानी से भी पतला, धुएं से भी झीना, पवन से भी वेगवान पर अब वह मेरे वश में मित्र सदृश है- मैं जैसा चाहूँगा वही वह करेगा। मुझसे प्रतिकूल नहीं चलेगा-

''पानी हूँ, तै पातरा, धूंवा हू ते झीन।
पवंनां बेगि उतावला सो दोस्त कबीरै कीन।।''[16]

इस प्रकार सन्त कबीर ने सामाजिक विसंगतियों को दूर करने का मार्ग दिखाया, साथ ही मानव की आत्मिक शुद्धि पर भी बल दिया तथा सत्पुरुष बनने एवं सत्पुरुषों की संगति पर भी बल दिया। आदर्श मानव बनने के लिए हमें सामाजिक विसंगतियों एवं बाह्याडम्बरों से दूर रहना है तथा अपनी आन्तरिक विसंगतियाँ भी दूर करना है अर्थात् मन को विषय विकारों से दूर रखकर परिशुद्ध करना है। व्यक्ति ही समाज का निर्माण करते हैं जब व्यक्ति ही आदर्श होंगे तो समाज स्वतः ही आदर्श होगा। अतः सन्त कबीर का मानवतावादी दृष्टिकोण आदर्श समाज के लिए मार्गदर्शक का कार्य करता है। उनके मानवतावादी विचार प्रत्येक युग के लिए उपयोगी एवं प्रासंगिक हैं।

संदर्भ

1. कबीर ग्रन्थावली, पदावली, श्याम सुन्दर दास, पद 55
2. कबीर ग्रन्थावली, पदावली, श्याम सुन्दर दास, पद 53
3. कबीर ग्रन्थावली, तिवारी पारसनाथ, पृ0 108
4. कबीर ग्रन्थावली, पदावली, श्याम सुन्दर दास, पद 58
5. कबीर ग्रन्थावली, रमैनी-2, पृ0 118 प्र0सं0
6. कबीर ग्रन्थावली, पदावली, श्याम सुन्दर दास, पृ0 206
7. कबीर ग्रन्थावली, पदावली, श्याम सुन्दर दास, पद 58
8. कबीर ग्रन्थावली, पदावली, श्याम सुन्दर दास, पद 57
9. कबीर ग्रन्थावली, काल कौ अंग श्याम सुन्दर दास, 46/1
10. कबीर ग्रन्थावली, चितावणी कौ अंग, 5/215
11. कबीर वाणी-237
12. कबीर ग्रन्थावली (सटीक), गुप्त हरिहर प्रसाद, साखी-कस्तूरिया मृग कौ अंग 1/761।
13. कबीर ग्रन्थावली, पीव पिछाणन कौ अंग, श्यामंद सुन्दर दास, 36/1
14. सन्त बानी संग्रह, भाग-1 कबीर, 50/2
15. कबीर ग्रन्थावली (सटीक) गुप्त हरिहर प्रसाद साखी, असाध कौ अंग 3/480
16. कबीर ग्रन्थावली (सटीक) गुप्त हरिहर प्रसाद साखी, असाध कौ अंग 12/284

याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रायश्चित का स्वरूप

डॉ प्रियंका तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग
एस0 एन0 सिन्हा कॉलेज, जहानाबाद (बिहार)

बालम्भट्टी ने याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित अध्याय के श्लोक 206 को आधार बनाकर कहा है कि प्रायः का अर्थ है- 'पाप' और 'चित' का अर्थ है 'शोधन या शुद्धिकरण । अतः प्रायश्चित का अर्थ हुआ पाप शुद्धिकरण[1] हेमाद्रि ने भी एक अज्ञात भाष्यकार की व्याख्या की ओर संकेत किया है, प्रायः का अर्थ है विनाश और चित्त का अर्थ है 'संधान'। अतः प्रायश्चित का अर्थ हुआ 'जो नष्ट हो गया है उसकी पूर्ति अतएव या पापक्षय के लिए नैमित्तिक कार्य हुआ।[2]

प्रायः विवाक (पृष्ठ 3) एवम् प्राय तत्व (पृष्ठ 467) ने हारीत को उद्धृत कर एक अन्य व्युत्पत्ति दी है- प्रयत (पवित्र) चित (संग्रहित) जिसके अनुसार 'प्रायश्चित' का अर्थ है ऐसे कार्य जैसे-तप, दान एवं यज्ञ जिनसे व्यक्ति पवित्र हो जाता है और अपने एकत्र पापों को नाश कर देता है, जिस प्रकार वस्त्र नमक, उपस्वेद (गर्मी, उष्णता) तथा खौलते पानी में डालने एवं जल से धोने से स्वच्छ हो जाता है।[3]

अतः याज्ञवल्क्य के 'प्रायश्चित' अध्याय के 220 श्लोक का कथन है कि 'प्रायश्चित शब्द रूढ़ रूप से उस कर्म या कृत का द्योतक है जिसे नैमितिक कहा जाता है अर्थात् इसका उपयोग तभी होता है जबकि उसके लिए कोई अवसर आता है, यह पाप नाश के लिए प्रयुक्त होता है अतः यह काम्य भी है।[4] वृहस्पति ने भी प्रायश्चित को नैमितिक कर्म माना है। जाबाल के मत से प्रायश्चित का संबंध नैमितिक एवं काम्य दोनों कर्मों से है।

कुछ स्मृतिकार जैसे वृहस्पति आदि ने पापों के दो भेद बतायें हैं- कामकृत तथा अकामकृत। कामकृत से तात्पर्य वैसे पाप से है जो अनजाने में हो जाए। तब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि प्रायश्चित किस पाप के लिए होता है? क्या कामकृत पापों को भी प्रायश्चितों द्वारा नष्ट किया जा सकता है। जान बूझकर किये गये पाप को प्रायश्चित से नष्ट नहीं किया जा सकता। इसके समर्थन में मनु का कहना है 'अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्धयति। कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चितैः पृथग्विधैः।।'

अनिच्छापूर्वक किया गया पाप वेदाभ्यास से नष्ट हो जाता है तथा रागद्वेषादि मोहवश इच्छापूर्वक किया गया पाप अनेक प्रकार के प्रायश्चितों से नष्ट होता है। गौतम एवं वषिष्ठ का द्वितीय मत है कि पाप के प्रभावों को दूर करने के लिए प्रायश्चित का सम्पादन होना चाहिए। चार वैदिक उक्तियों में इनके मत का आधार देखा जा सकता है- प्रथम यह है कि 'कोई व्यक्ति पुनः स्तोम के सम्पादन उपरान्त पुनः सोमयज्ञ में आ सकता है।' दूसरी उक्ति है कि-'व्रात्यस्तोम करने के उपरान्त व्यक्ति वैदिक यज्ञों के सम्पादन के योग्य हो जाता है। 'तीसरी उक्ति है-' जो व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ करता है वह सब पापों को पार कर जाता है और ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है' तथा चौथी अंतिम उक्ति है-'जो दूसरों पर महापातक मढ़ता है वह अगिन्ष्टुत करता है' गौतम ने इस संबंध में चारों मतों को व्यक्त किया है जबकि वषिष्ठ ने प्रायश्चितों के सामर्थ्य के विषय में उपर्युक्त दो मतों को व्यक्त किया है। पुनः मनु का कथन है कि-

'अकामतः कृते पापे प्रायश्चितं विदुर्बुधाः।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात।।'

कुछ पंडित लोग अज्ञान में किये गये पाप में प्रायश्चित करने को कहते हैं और कुछ आचार्य ज्ञान से किये गये पाप में भी श्रुति को देखने से प्रायश्चित करने को कहते हैं।

जानबूझकर किये गये पापों को प्रायश्चित से नष्ट नहीं किया जा सकता है इस प्रकार के पोषक ऋषियों का मत इस प्रकार है मनु के भाँति गौतम भी दोनों प्रकार के मत दिये हैं गौतम ने अपने पहले मत में कहा है कि दुष्कृत्यों के लिए प्रायश्चित नहीं किये जाने चाहिए, क्यांकि उसका नाश नहीं होता, उनके फलों के भोग से ही उसका नाश संभव है।[5] याज्ञवल्क्य का कथन है कि-

'प्रायष्चित्तैरपत्येनों यदज्ञानकृतं भवंते। कामतों व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते।।'

अर्थात् जो पाप अज्ञानवश किया गया होता है वह प्रायश्चित से दूर होता है। जानबूझकर पाप कर्म करके प्रायश्चित करने पर वह पाप दूर तो नहीं होता, किन्तु प्रायश्चित के वचन के द्वारा लोक में व्यवहार के योग्यता प्राप्त होता है।[6]

याज्ञवल्क्य के कथनानुसार प्रायश्चित जानबूझकर किये गये पापों को नष्ट नहीं करते किन्तु पापी प्रायश्चित कर लेने से अन्य लोगों के संसर्ग में आ जाने के योग्य हो जाता है। याज्ञवल्क्य के कहने का तात्पर्य यह है कि जानबूझकर अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये गये पापों के फलों से मुक्ति नहीं मिलती। यही बात मनु के इस कथन से भी झलकती है। प्रायश्चित न करने वाले पापियों से सामाजिक संबंध नहीं करना चाहिए।[7] छागलेय का कथन है कि अनजान में किये गए पापों के पलों से ही प्रायश्चितों द्वारा छुटकारा मिलता है, जानबूझकर किये गये पापों (उपपातकों,आत्महत्या या आत्महत्या करने के प्रयत्न के पापों को छोड़कर) के फलों से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रायश्चित नहीं है।[8] महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी व्यवस्था दी है कि पातकी को अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित करना चाहिए इस प्रकार उसका अन्तरात्मा पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेता है और अन्य लोग भी प्रसन्न हो जाते है-

'तस्मान्तेनेह कर्त्तव्यं प्रायश्चितं विशुद्धये। एवमस्यान्तरात्मा च लोकष्चैन प्रसीदति।।[9]

मनु का मत इसी से मिलता हैः 'भाग्यवश पूर्व जन्म कृत पापों से प्रायश्चित के योग्य द्विज बिना प्रायश्चित किये सज्जनों के साथ संबंध न करें।[10]

पंचमहापातक

छान्दोग्योपनिषद् समय से लेकर आगे साधारणतः केवल पाँच महापातक परिगणित हुए हैं- जैसे- ब्रह्महत्या, सुरापान (ब्राह्मण) सोने की चोरी, गुरूपत्नी के साथ सम्भोग तथा इस प्रकार के पापों के कर्त्ता के साथ एक वर्ष तक लगातार संसर्ग।

(1) ब्रह्महत्या- ब्रह्महत्या या वध शब्द का प्रयोग उस कर्म के लिए होता है जिसके करने से तुरन्त या कुछ समय उपरान्त बिना कोई अन्य कारण उपस्थित हुए जीवन की हानि होती है।

(2) सुरापान- तैत्तरीय संहिता (2/5/1/1) वाजसनेयी संहिता (19/7) एवं शतपथ ब्राह्मण (2/1/5/28) इस ग्रन्थ में आया है- 'सोम सत्य है, समृद्धि है और प्रकाश है, सुरा असत्य है, विपन्ता है और अन्धकार है।' इसलिए ब्राह्मण को सुरापान करना वर्जित है। सुरापान से तात्पर्य शराब, मदिरा आदि से था।

(3) सोने की चोरी- याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण के लिए सोने की चोरी महापातक है।

(4) गुरूअंगनागमन- प्रायश्चित मयूख (पृ0 73) में आया है- वेदाध्यापक गुरु के पत्नी के साथ सम्भोग भी एक महापातक है।

(5) महापातकी संसर्ग- गौतम (29/3), वशिष्ठ (1/21-22), मनु (11/180), याज्ञवल्क्य (3/261), विष्णु (25/3) एवं अग्निपुराण (170/1-2) ने संक्षेप में व्यवस्था दी है कि जो लगातार एक साल तक चार महापातकियों का अति संसर्ग करता है अथवा उनके साथ रहता है तो वह भी महापातकी हो जाता है।

महापातकों के लिए प्रायश्चित

शंख (17/1-3) ने चार महापातकों के लिए निम्न प्रायश्चित निर्धारित किये है- महापातकी को दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, वन में पर्णकुटी (घास-फूस, पत्तियों आदि से झोपड़ी) बना लेनी चाहिए, पृथ्वी पर सोना चाहिए, ग्राम में भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते समय महापातक की घोषणा करनी चाहिए, दिन में केवल एक बार खाना खाना चाहिए, जब इस प्रकार 12 वर्ष व्यतीत हो जाते है तो सोने का चोर, सुरापान करने वाला, ब्रह्महत्यारा एवं व्यभिचारी (माता, बहिन,पुत्रवधु,गुरूपत्नी आदि से व्यभिचार करने वाला) महापाप से मुक्त हो जाता है।[11] विष्णु (34/1) ने माता, पुत्री, पुत्रवधू के साथ सम्भोग करने को अतिपाप कहा है और उसके लिए (34/2) अग्नि प्रवेश से बढ़कर कोई अन्य प्रायश्चित नहीं ह्वहराया है। यही बात हारीत एवं संवर्त (प्रायश्चित विवेक पृ0 43) में भी कही है। किन्तु मनु (31/49) याज्ञवल्क्य (3/227) आदि कुछ स्मृत्तियों ने मातृगमन को महापातक एवं पुत्री तथा पुत्रवधू के साथ गमन को गुरू शय्या अपवित्र करने के समान माना है (मनु 11/49, एवं याज्ञवल्क्य 3/233-234) ।

मिताक्षरा एवं कुल्लूक (मनु 11/72) का कथन है कि यदि ब्रह्महत्या अनजाने में हुई हो तो यह व्रत 12 वर्षों तक चलना चाहिए, किन्तु जानबूझकर की गयी ब्रह्महत्या के लिए अवधि 24 वर्ष की होती है। मनु के अनुसार (11/75) ब्रह्महत्या के महापातक से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति सीमित भोजन करते हुए आत्मनिग्रहपूर्वक चारों में किसी एक वेद पाठ के साथ 1000 हजार योजनों की पैदल यात्रा कर सकता है। मनु (11/76) के मत से ब्रह्मघातक किसी वेदज्ञ को अपनी सारी सम्पत्ति दान में देकर छुटकारा पा सकता है।

सुरापान करने पर ब्राह्मण को अतिकठोर प्रायश्चित करने पर भी जीवन रक्षा मिल सकती थी। गौतम (23/1), आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1/9/25/23), बौधायन धर्मसूत्र (2/1/21), वशिष्ठ (20/22), मनु (11/90-91) एवं याज्ञवल्क्य के (3/253) के मत से यदि कोई ब्राह्मण अन्न से बनी सुरा को ज्ञान में केवल एक बार भी पी ले तो उसका प्रायश्चित मृत्यु से ही बन पाता है अर्थात् उसी खौलती हुई सुरा को, खौलते हुए गोमूत्र को, खौलते हुए दूध, घी, गीले गोबर को पीना पड़ता था और जब वह पूर्ण रूपेण इस प्रकार जल उठता था और उसके फलस्वरूप मर जाता था तो वह सुरापान के महापातक से छुटकारा पा जाता था। ऋषियों ने क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए भी सुरापान करने पर यही प्रायश्चित बताया है।

सोने की चोरी के महापातक के विषय में आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1/8/25/4) के अनुसार अग्नि प्रवेश या कम खाते-खाते मर जाने की व्यवस्था दी है। 80 रत्तियों की तोल या इससे अधिक की तोल तकह (ब्राह्मण) की सोने की चोरी में सभी वर्णों के लिए चोरी का प्रायश्चित मृत्यु के रूप मे था (मनु 8/134 एवं याज्ञवल्क्य 1/363) किन्तु ब्राह्मण को इस महापातक के लिए वन में 12 वर्षो तक चिथड़ों में लिपटकर प्रायश्चित स्वरूप रहना पड़ता था या वही प्रायश्चित करना पड़ता था जो ब्रह्महत्या (मनु 11/101) या सुरापान (याज्ञवल्क्य 1/363) के लिए व्यवस्थित था सोने की चोरी में चोर अपने भार के बराबर सोना भी दे सकता था या उसे इतना धन देना पड़ता था कि किसी ब्राह्मण के कुल का ब्राह्मण के जीवन काल तक भरण-पोषण हो सके (मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य (3/258)।

गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार के लिए गौतम (23/8-11) आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1/9/25/1-2) बोधायनधर्मसूत्र (2/1/14-16), वशिष्ठ (20/13-14) एवं मनु (11/103-104) ने व्यवस्था दी कि अपराधी को अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए तब उसे तप्त लोहे पर शयन करना होगा या नारी को तप्त लौहमुर्ति का आलिंगन करना होगा या उसे अपने लिंग एवं अण्डकोशों को काटकर उन्हें

लिये हुए दक्षिण या दक्षिण पूर्व की दिशा में तबतक सीधे चलते जाना होगा जबतक वह मृत होकर गिर न पड़े और तभी वह इस प्रकार की मृत्यु से शुद्ध हो जाएगा। मनु (11/58 एवं 170/171), याज्ञवल्क्य (3/231), संवर्त 159 ने गुरुपत्नी उच्च जाति की कुमारी पुत्र-वधू संगोत्र नारी, सहोदरा नारी (बहन आदि) या अन्त्यज नारी के साथ संभोग करने को गुरुतत्प गमन के समान ही माना है और प्रायश्चित उससे थोड़ा ही कम गहराया है।

महापातकियों के संसर्ग के संबंध में मनु (11/181), विष्णु (54/1) एवं याज्ञवल्क्य (3/261) का कथन है कि जो भी कोई महापातकियों का संसंर्ग करता है उसे संसर्ग पाप से मुक्त होने के लिए महापातक वाला ही व्रत (प्रायश्चित) करना पड़ता है। यदि संसंर्ग अज्ञानवश हो तो प्रायश्चित आधा होता है। व्यास ने ज्ञान में किये गये संसर्ग के लिए 3/4 प्रायश्चित की व्यवस्था दी है।(11) प्रायश्चित विवाक (पृ0 171) के मत से ब्राह्मण एवं शूद्र के संसर्ग के विषय में प्रायश्चित में कोई अन्तर नहीं था यद्यपि अन्य बातों में प्रत्येक वर्ण के लिए 1/4 छूट दी जाती थी। यदि संसर्ग 1 वर्ष से कम का होता था तो उसी अनुपात से प्रायश्चित में छूट मिलती थी, केवल पतित ही निन्द्य नहीं माना जाता था, प्रत्युत पतित होने के उपरान्त उत्पन्न पुत्र भी पतित माना जाता था और उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था किन्तु पतित की पुत्री के साथ ऐसा नियम नहीं था उसके साथ विवाहित पति का दोष नहीं लगता था।

मनु, याज्ञवल्क्य एवं अग्निपुराण (168/29-37) ने गोवध को उपपातकों में सबसे पहले रखा है। गौतम (22/18) ने उसके लिए वही प्रायश्चित निर्धारित किया है जो वैश्य हत्या पर किया जाता है। जैसे वन में 3 वर्षों का निवास, भीख मांगकर खाना,ब्रह्मचर्य पालन एवं बैल के साथ सौ गायों का दान। याज्ञवल्क्य (3/263/264) ने 4 पृथक प्रायश्चितों की व्यवस्था दी है।

(1) गो घातक को अपनी इन्द्रियो पर 1 मास नियंत्रण करना चाहिए उसे पंचगव्य पर ही रहना चाहिए, गोशाला में सोना चाहिए, दिन में उस गोशाला की गौएं चराना चाहिए और मास के अन्त में एक गाय का दान करना चाहिए।

(2) उसे कृच्छ प्रायश्चित करना चाहिए, गोशाला में सोकर उसकी गायों के पीछे-पीछे दिन में चलना चाहिए।

(3) 3 दिनों का उपवास कर अन्त में एक बैल के साथ दो गौऐं दान करनी चाहिए शिखा के साथ सिर मुड़ा लेना चाहिए, शरीर के ऊपरी भाग पर गाय की खाल पहननी चाहिए, गायों का चराना चाहिए उनके पीछे-पीछे चलना चाहिए, गोशाला में सोना चाहिए और अन्त में एक गाय दान करनी चाहिए।[12]

पारदार्य (दूसरे पत्नी के साथ व्यभिचार)- उपपातक माना जाता था (मनु 11/59) एवं याज्ञवल्क्य 3/235) इसमें गुरुतत्पगमन, गुरुपत्नी एवं चाण्डल के स्त्रियों के साथ संभोग नहीं सम्मिलित है। (मनु 11/170-172,175,178,) याज्ञवल्क्य (3/231,235, वशिष्ठ 20/15-17 एवं 23/41), आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1/10/28/19) उस पुरुष व्यभिचारी के प्रति अति कठोर है जो अपनी पत्नी के साथ किये गये शपथ व्रत से च्युत होता है। ऐसे व्यक्ति को गदहे का चर्म बाल के भाग को ऊपर करके पहनना पड़ता था और सात घरों से भिक्षा मांगते समय कहना पड़ता था कि- उस व्यक्ति को भिक्षा दीजिए जिसने अपनी पतने के प्रति वचन भंग किया है। इसी प्रकार उसे 6 मास तक करना पड़ता था।

व्रात्यता (उचित समय पर उपनयन संस्कार न करने की स्थिति)

जो व्यक्ति उचित समय पर उपनयन संस्कार नहीं करता उसे व्रात्य या पतितसावित्रीय कहा जाता है। वशिष्ठ (12/77) ने उद्दालक व्रत का वर्णन इस प्रकार किया है-

'दो मासों तक जौ की लपसी पर रहना चाहिए, एक मास तक दूध पर, आधे मास तक अभिक्षा पर, आठ दिनों तक घी पर, छः दिनों तक बिना भिक्षा या बिना मांगे, तीन दिनों तक जल पर रहना चाहिए तथा एक दिन पूर्ण उपवास करना चाहिए।

व्रतलोप (ब्रह्मचारी द्वारा ब्रह्मचर्य पालन के व्रत की हानि की स्थिति)

वह वैदिक ब्रह्मचारी जो किसी स्त्री से संभोग कर लेता है उसे अवकीर्णी कहा जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में (1/9/26/8-9) कहा है कि ऐसे विद्यार्थी को पाकयज्ञ की विधि से नरक या मृत्यु की देवी को गदहे की बलि देनी चाहिए और किसी शूद द्वारा अवशिष्ट हवि खा डाली जानी चाहिए। जैमिनी ने कहा है कि आहुतियाँ लौकिक अग्नि में दी जानी चाहिए न कि वैदिक अग्नि में।

यज्ञवल्क्यस्मृति इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है कि मानव के शरीर का मृत्योपरांत पुनर्जन्म होता है तथा मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रायश्चित करने से हमारे पाप कम हो जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं।

संदर्भ

1. बालभट्टी, याज्ञवल्क्य 3/206
2. प्राय0 म0 (पृ0 2) हेमाद्रि (प्रायश्चित पृ0 189)
3. प्रायश्चित तत्व (पृ0 467) प्रायश्चित विवाक (पृ0 3), मदन पारिजात (पृ0 703)
4. प्रायश्चित (पृ0 859), परासरमाधवीय (2/1 पृ0 3)
5. गौतम 19/3-6, वशिष्ठ 22/2-5
6. याज्ञवल्क्यस्मृति-प्रायश्चित अध्याय श्लोक - 226
7. याज्ञवल्क्यस्मृति-प्रायश्चित अध्याय श्लोक - 189,47
8. मदनपारिजात पृ0 75, पराषरमाधवीय भाग-1, पृ0 201
9. याज्ञवल्क्यस्मृति-प्रायश्चित अध्याय श्लोक - 220
10. शंख (17/1-3) अपरार्क (पृ0 10-53-54), पराषर माधवीय भाग-1 पृ0 320,321 एवं प्राय0 प्रकरण।
1. व्यास (मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/261, कुल्लूक, मनु 11/181)
12. विश्वरूप, याज्ञवल्क्य 3/261 मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/264, हरदत्त गौतम 22/18, अपरार्क पृ0 1094।

श्रीमद्भगवद गीता में शान्ति की अवधारणाः एक विमर्श

ज्ञान प्रकाश उपाध्याय
शोध छात्र
दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

'शान्ति' की अवधारणा बहुआयामी है। शान्ति न तो स्तब्धतापूर्ण नीरवता है और न ही श्मशान घाट का सन्नाटा है। शान्ति के अन्तर्गत मन की एकाग्रता, समत्व, प्रसाद (आनन्द), करूणा, प्रेम, क्षमा, शील आदि सद्गुण सहज भाव से अन्तर्भूत हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि शान्ति पूर्वोक्त समस्त सद्गुणों का एकायन और सामञ्जस्य है। इसका आधार आत्मसंयम एवं आत्मनियन्त्रण है। आत्मसंयम के लिए बुद्धि के द्वारा युक्तिपूर्वक मन एवं इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि शान्ति की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। इसका प्रयोग व्यक्ति की मनःस्थित के साथ-साथ लौकिक जीवन, अर्थात् समाजिक कल्याण, पर्यावरणीय संतुलन एवं वैश्विक शान्ति से लेकर आध्यात्मिक शान्ति पर्यन्त किया गया है।

भगवद्गीता में प्रयुक्त शान्ति का विमर्श समग्रतामूलक है। इसके अन्तर्गत मानसिक शान्ति से लेकर क्रमशः स्थितप्रज्ञ अवस्था तक सम्मिलित है। जब कोई साधक अपनी समस्त लौकिक कामनाओं का परित्याग कर देता है और वह अपने आप में सन्तुष्ट रहता है तो उसे स्थितप्रज्ञ की अवस्था कहा गया है। ऐसा योगी अपने आप में सन्तुष्ट और शान्त रहता है।[1] वह ब्राह्मी अवस्था, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। साधना द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर साधक योगी विषयों के प्रति राग (आसक्ति) से मुक्त हो जाता है। ऐसा साधक 'समत्व' को प्राप्त हो जाता है- 'समत्वं योग उच्यते'। शान्ति की अवस्था को समत्व, स्थितप्रज्ञता एवं ब्राह्मी अवस्था भी कहा गया है। गीता में निर्दिष्ट साधना -पथ मध्यम मार्ग है। योग एवं समत्व की अवस्था ही परम शान्ति की ओर ले जाती है। इसके लिए सन्तुलित आहार-विहार, स्वप्न, जागरण एवं कर्मो में सन्तुलित चेष्टा या प्रयत्न करने पर बल दिया गया है। अतिशय भोग और अतिशय त्याग दोनों शान्तिपूर्ण साधना के मार्ग में बाधक है। इसकी तुलना महात्मा बुद्ध के मध्यमाप्रतिपत् से की जा सकती है। उल्लेखनीय है कि बुद्ध ने भी अपने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र प्रवर्तन) में दो अतियों (अतिशय भोग एवं अतिशय त्याग) से बचने पर बल दिया था। अतः शान्ति एवं निर्वाण का साधना पथ मध्यम मार्ग है। गीता में निर्दिष्ट समत्व, योग एवं साधना-पथ भी मध्यम मार्ग की ओर ले जाता है, और मध्यमार्ग शान्ति की ओर ले जाता है।

गीता के अनुसार मानव-जीवन का लक्ष्य परम शान्ति की उपलब्धि है। परम शान्ति का ही दूसरा नाम आनन्द है। परमानन्द साधारण लौकिक सुखों से भिन्न है। क्योंकि लौकिक सुख अनित्य, सापेक्ष, भौतिक, मानसिक एवं परिवर्तनशील होते हैं। उल्लेखनीय है कि लौकिक सुख-दुःख प्राकृतिक है। प्रकृति के तीनों गुणों सत्व, रज एवं तम हैं। सत्व सुखदायक, रज दुःख रूप, और तम मोह रूप हैं। अतः लौकिक सुख परम शान्ति नहीं प्रदान करते हैं। आत्मा प्रकृति से परे है; अर्थात् त्रिगुणातीत है। सच्ची शान्ति आत्म-लाभ में है। आत्म-लाभ परम शान्ति एवं परम आनन्द है। अतः गीता में शान्ति की अवधारणा आनन्दवाद की ओर ले जाती है। साधना के सभी मार्ग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग परम शान्ति, आनन्द एवं मोक्ष की ओर ले जाते हैं। श्रद्धावान ईश्वरपरायण जितेन्द्रिय पुरूष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सच्चा ज्ञान (आत्म-ज्ञान एवं ईश्वर साक्षात्कार) से उसे शीघ्र ही परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।[2]

गीताकार ने शान्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने से पूर्व जनमनोविज्ञान का व्यवस्थित विवेचन किया है। प्रश्न उठता है कि अशान्ति का कारण क्या है? मन का निग्रह किए हुए बिना शान्ति मनःस्थित सम्भव नहीं है। गीता में मन की चंचलता के कारणों का भी विश्लेषण किया गया है। चंचल मन विषयों का बार-बार विश्लेषण, चिंतन और ध्यान करता है। इसके कारण मनुष्य में उन विषयों के प्रति आसक्ति पैदा होती है। जिन विषयों में आसक्ति या लगाव होता है उनको प्राप्त करने की कामना होती है। यदि मनुष्य में कामनाओं की पूर्ति नहीं होती है तो क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी एक कामना की पूर्ति हो जाती है तो पुनः दूसरी वस्तु की कामना होती है। इस प्रकार कामनाएं कभी उपभोग से तृप्त नहीं होती है।[3] कामनाओं की पूर्ति न होने से क्रोध अपरिहार्य हो जाता है। क्रोध के कारण व्यक्ति मोहग्रस्त हो जाता है। मोहग्रस्त बुद्धि वाला व्यक्ति स्मृतिभ्रंश का शिकार हो जाता है। अर्थात् उसे उचित और अनुचित का विवेक न होने से उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है वह स्वयं नष्ट हो जाता है।[4] इस प्रकार गीताकार ने मनुष्य के विचार और आचरण को प्रभावित करने वाले मनोभावों में पारस्परिक सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या किया है। ये मनोविकार ही मनुष्य की मानसिक शान्ति को भंग करते हैं। वस्तुतः शान्ति और अशान्ति की अवस्थाएं मनोविकारों के नियन्त्रण एवं आत्मसंयम पर आधारित हैं।

उल्लेखनीय है कि जब विषादग्रस्त अर्जुन को श्रीकृष्ण निष्काम कर्ममार्ग के अनुपालन का उपदेश देते हैं तो अर्जुन एक शिष्य (विद्यार्थी) की तरह प्रश्न करता है। वह कहता है- हे श्रीकृष्ण! यह मन अत्यन्त चंचल है और यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व को मथ डालता है। मन का निग्रह वायु को पकड़ने से भी कठिन है।[5] महात्मा गांधी ने भी अपनी आत्मकथा में गीता के उक्त मत का समर्थन करने हुए इसका उल्लेख किया है। गाँधी जी के अनुसार मन के विकारों को जीतना संसार को शस्त्र-युद्ध से जीतने की अपेक्षा मुझे अधिक कठिन मालूम पड़ता है। अहिंसा बिना आत्म-शुद्धि के संभव नहीं है। अहिंसा के बिना शान्ति भी सम्भव नहीं है। अहिंसा ही सत्य रूपी नारायण के दर्शन का मार्ग है। ऐसे व्यापक सत्य नारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीवमात्र के प्रति आत्मवत प्रेम की परम आवश्यकता है।[6] इससे स्पष्ट है कि मन ही मनुष्य के बंधन-मोक्ष तथा जीवन में शान्ति और अशान्ति का प्रमुख कारण है। भगवद्गीता के अनुसार इसका एकमात्र समाधान मन का नियन्त्रण है जो अभ्यास और वैराग्य से ही सम्भव है।[7] वैराग्य से तात्पर्य है- लौकिक विषय वासनाओं जैसे- धन, जन, यौवन, पद, यश, मान-अपमान, जय-पराजय आदि के प्रति तटस्थता एवं त्याग का भाव। इस प्रकार गीता के अनुसार अभ्यास (आत्मसंयम की साधना) और वैराग्य शान्ति के मार्ग हैं।

भोगवादी और संसारिक जीवन में आसक्त पुरूष न तो मानसिक शान्ति और न ही आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो पुरूष कामनाओं और इन्द्रियों को वशीभूत करके 'मैं' और 'मेरे' के भाव से मुक्त हो जाता है वह उस परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है जिसको प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। गीता में इसे ब्राह्मी अवस्था कहा गया है। यह परम शान्ति ही मानव-जीवन का परमश्रेय है।[8]

प्रायः भारतीय दर्शन में अविद्या जनित अहंकार को शान्ति के मार्ग में बाधक माना गया है। अहंकार ही मानव जीवन की समस्याओं का प्रमुख कारण है। शान्ति के लिए अंहकार को विसर्जित कर देना अनिवार्य है। गीता में अहंकार शून्यता को विन्रमता कहा गया है। विनम्रता एक सद्गुण है। गीता में इसे दैवीय सम्पद् के रूप में स्वीकार किया गया है। जब हम सच्चे हृदय से किसी को नमन करते हैं (जैसे गुरू अथवा ईश्वर) तो हम अहंकार को शून्य कर देते है। अहंकार के शून्य हो जाने

पर भेद-बुद्धि शिथिल हो जाती है। हिन्दू (सनातन धर्म), जैन, बौद्ध, सिख, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि धार्मिक सम्प्रदायों का अपना-अपना अहंकार ही आपसी मतभेद, कलह, विरोध और अशान्ति पैदा करता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अनुयायी अपने सम्प्रदाय को बड़ा और महान मानता है। अंहकार को विसर्जित कर देने पर समस्त भेद, कलह, अशान्ति और विवाद समाप्त हो जाते हैं। अहंकार के कारण मनुष्य स्वयं को परमात्मा से अलग समझता है। वह स्वयं को कर्ता समझ कर अपने को प्रकृति से अभिन्न मान लेता है। गीता के अनुसार- **'अहंकार विमूढ़तात्मा कर्ताहमिति मन्यते'**।[9] गीता के अनुसार कर्मो की सिद्धि के लिए पांच कारण महत्वपूर्ण हैं, जो अधोलिखित है।[10]

1. अधिष्ठान अर्थात् स्थान या क्षेत्र-कर्म का अधिष्ठान शरीर भी है।
2. कर्ता अर्थात् कार्य को सम्पन्न करने वाला (मन या व्यक्ति)।
3. करण जिनके द्वारा कार्य किया जाता है, अर्थात् साधन।
4. अनके प्रकार की चेष्टाएं या प्रयास।
5. दैव अर्थात् संस्कार एवं दैविक शाक्ति अथवा प्रारब्ध कर्म।

इस प्रकार किसी कर्म का सफल या असफल होना पांचो कारणो पर निर्भर करता है। जो मनुष्य इन पांच कारणों को न मानकर स्वयं को कर्ता मानता है , वह निश्चय बुद्धिमान नहीं है। ऐसा मूर्ख व्यक्ति वस्तुओं को सही रूप में नहीं देखता है। जो मनुष्य परम कारण दैव (परमात्मा) को नहीं मानता है, वह स्वयं को एकमात्र कर्ता मानता है। ऐसे व्यक्ति अहंकार और फलासक्ति के कारण सदैव तनाव, अवसाद और अशान्ति से ग्रस्त होते हैं। अतः शान्ति का पथ अनासक्ति भाव से कर्म करना है।

गीता में शान्ति के लिए विभिन्न मार्गो का उल्लेख किया गया है। शान्ति की इस अवस्था के लिए बुद्ध और महावीर ने ध्यान पर बल दिया, जब कि चैतन्य महाप्रभु, मीराबाई आदि प्रेमाभक्ति का मार्ग अपनाते हैं। कोई साधक ज्ञानमार्गी है तो कोई भक्ति मार्गी अथवा कर्ममार्गी है। प्रत्येक का साधना पथ अलग-अलग प्रतीत होता है, किन्तु सबका एकमात्र लक्ष्य हैः परम्शान्ति। इस परम शान्ति को भारतीय दर्शन में मोक्ष, निर्वाण कैवल्य, मुक्ति इत्यादि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है।

ध्यान और समाधि से जागृति आती है, जबकि प्रेमाभक्ति में आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। किन्तु इन दोनों अवस्थाओं में अहंकार समाप्त हो जाता है। अहंकार के नष्ट हो जाने पर 'स्व' और **'पर'** अर्थात् अपना और पराया का भेद समाप्त हो जाता है। अर्थात् अंहकार के नष्ट हो जाने पर भेद बुद्धि समाप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप परमशान्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है। गीता के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मोह आदि मनुष्य के आन्तरिक शत्रु हैं। ये मनोविकार ही सम्पूर्ण विश्व में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अशान्ति पैदा करते हैं। अतः जब तक आन्तरिक शत्रुओं पर विजय न प्राप्त कर ली जाय तब तक मानव जीवन में शान्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता है।

गीता के प्रारम्भ में ही द्वैत बुद्धि, आसक्ति और मोह को शान्ति के मार्ग में बाधक माना गया है। इस सन्दर्भ में गीता के प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र संजय से प्रश्न करता है- हे सजंय! धर्म के क्षेत्र-कुरूक्षेत्र में **'मामकाः'** अर्थात मेरे पुत्रों और मेरे अनुज पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?[11] यहाँ पर धृतराष्ट्र अपने पुत्रों और अपने अनुज पाण्डु के पुत्रों में भेद करता है। **'धृतराष्ट्र'** मोह जनित अज्ञान एवं आसक्ति का प्रतीक है। वह अपने और परायें में अलगाव का भाव रखता है। यह भेद-बुद्धि ही

लोकजीवन में व्याप्त पारस्परिक राग-द्वेष, छल-प्रपंच, ईर्ष्या और अशान्ति की जननी है। यह मोहजनित भेद बुद्धि ही समस्त पाप एवं अशान्ति की ओर ले जाती है। इस सन्दर्भ में गीता के सोलहवें अध्याय[12] में **'दैवी सम्पद्'** और **'आसुरी सम्पद'** में किया गया विभेद महत्वपूर्ण है। यहाँ शान्ति के मार्ग को ले जाने वाले सद्गुणों और अशान्ति कारक दुर्गुणों का विवेचन किया गया है। भय का अभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, तत्वज्ञान के लिए ध्यान में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का नियन्त्रण, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का न होना, शुभ और अशुभ कर्मों के फलों का त्याग, प्रणियों के प्रति दयाभाव, अनासक्ति, कोमलता अपने लक्ष्य से विमुख होने मे लज्जा, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, किसी के प्रति शत्रु-भाव का न होना, अपने में अहंकार का सर्वथा अभाव आदि **दैवी सम्पद्** प्राप्त पुरूष के लक्षण हैं। इसके विपरीत पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान आसुरी सम्पद् प्राप्त पुरूष के लक्षण है।[13] इनमें से दैवीय सम्पद् मोक्ष और शान्ति के लिए है और आसुरी सम्पद् बंधन, अशान्ति और दुख के लिए है। जब हृदय में दैवीय सम्पद् निवास करती है तो वह मनुष्य शान्ति का दूत अर्थात देवता बन जाता है। इसके विपरीत असुरी सम्पद् के बलवती होने पर मनुष्य अभिमानी, क्रूर और आततायी हो जाता है। गीता के अनुसार लौकिक जीवन में प्राणियों के दो स्वाभाव और दो जातियां है। वे चाहे अरब में पैदा हुए हों अथवा आस्ट्रेलिया में पैदा हुए हों। वह मनुष्य या तो शान्ति दूत हो जाता है या आततायी। दुष्ट एवं आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों के कारण विश्व में अशान्ति पैदा होती है। ऐसे मनुष्य अहंकार और आसक्ति से ग्रस्त होकर कभी पूर्ण न होने वाली कामनाओं के वशीभूत हो जाते है। ऐसे लोग अतिशय भोगवादी है। वे अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करते चले जाते हैं। वे सोचते है कि मैने इतना धन प्राप्त कर लिया है और भविष्य में भी इसें प्राप्त करते रहेगें। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और मैं अन्य शत्रुओं को मार दूंगा इत्यादि। इस प्रकार के अपने आचरण से लोग विश्व में अशान्ति पैदा करते हैं।[14] गीताकार ने काम, क्रोध और लोभ इन तीन प्रकार के मनोभावों को अशान्ति कारक और आत्मा का नाश करने वाले नरक का मूल द्वार कहा है।[15] इन तीनों मनोविकारों का होना अशान्ति कारक है। इन तीनों पर ही आसुरी सम्पद् टिकी हुई है। अतः गीता में वैश्विक कल्याण के लिए दैवीय सम्पदा को अपनाने और आसुरी सम्पद् के परित्याग पर बल दिया गया है। इस प्रकार गीता में भावात्मक और निषेधात्मक दोना ही दृष्टियों से शान्ति के स्वरूप पर विमर्श किया गया है। दैवी सम्पद् व्यक्ति और समाज दोनों के लिए शान्ति का मार्ग है।

गीता में वर्णित वर्णव्यवस्था का विधान भी सामाजिक शान्ति को प्रशस्त करता है। वर्ण व्यवस्था श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है।[16] चारों वर्णों में से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार प्रकार की प्रवृत्तियों और विशिष्ट कर्म कौशल (विशिष्टता) पर आधारित हैं। प्रत्येक वर्ण अथवा वर्ग के अपने-अपने विशिष्ट कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों का निर्धारण भी गुणों (संस्कारों) और कर्मो पर आधारित हैं। चारों वर्ण परस्पर सहयोगी हैं। वे एक-दूसरे के प्रतियोगी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि गीता द्वारा निर्धारित वर्णव्यवस्था वर्ण-संघर्ष पर आधारित नहीं है। इसकी तुलना में हेगलीय द्वन्द न्याय विरोध पर आधारित है। हेगल के द्वन्द न्याय में विरोध को सभी प्रकार के परिवर्तनों, विकास और क्रान्तियों का आधार माना गया । इसके विपरीत गीता में संघर्ष के स्थान पर सामन्जस्य एवं सहयोग को अपनाया गया है। चारों वर्णों के पारस्परिक सहयोग एचं सामन्जस्य से समाजिक शान्ति एवं सद्भाव पर आधारित सुशासन सम्भव है। यदि प्रत्येक वर्ग में परस्पर सहयोग एवं सामन्जस्य बना रहता है तो ऐसी सामाजिक व्यवस्था ही न्यायपूर्ण शासन और शान्ति की स्थापना में सफल हो सकती है। अपने स्वाभाविक कर्तव्यों का पालन करना और दूसरों के कार्यक्षेत्र

में अनावश्यक हस्तक्षेप न करने वाली न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था ही सामाजिक शान्ति की ओर ले जा सकती है। इसकी तुलना ग्रीक दार्शनिक प्लेटों के द्वारा प्रतिपादित समाज व्यवस्था और न्याय से की जा सकती है। प्लेटो के अनुसार आत्मा के तीनों पक्षों को क्रमशः संज्ञान, संकल्प और वेदना कहा जाता है जो क्रमशः विवेक, कर्म और साहस से सम्बन्धित है। आत्मा के तीनों पक्षों के सामन्जस्य से न्याय की उत्पत्ति होती है। इन तीनों पक्षों के अनुरूप ही राज्य के संरक्षक, सैनिक और पृथकजन की परिकल्पना की गयी है। गीता के समान प्लेटों भी कहता है कि इन तीनों वर्गों के पारस्परिक सहयोग से राज्य में शान्ति, सद्भाव, और न्याय पर आधारित सुशासन स्थापित हो सकता है। कुछ आलोचकों ने इन विचारों के लिए प्लेटों को वैदिक विचारधारा का ऋणी माना है।[17]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गीता के अनुसार मनुष्यों की नैसेर्गिक प्रवृत्तियां, गुण एवं संस्कार अलग-अलग होते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य करने में कुशल एवं सक्षम नहीं हो सकता है। आत्मसंयम की साधना, त्याग और श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक व्यवस्था ही न्याय और शान्ति की स्थापना कर सकती है। विश्व शान्ति की स्थापना हेतु यह आवश्यक है कि सामाजिक व्यवस्था का संचालन आत्मसंयम एवं श्रम विभाजन के सिद्धान्त को अपनाकर समाज के विवेकशील, सद्गुणी नागरिकों के द्वारा संचालित किया जाय। यह विश्व में शान्ति स्थापित करनें का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। वैश्विक समाज में व्याप्त हिंसा, तनाव, अवसाद, भ्रष्टाचार, कलह, आतंकवाद, पर्यावरण का संकट आदि शान्ति के मार्ग में बाधक कारकों का निराकरण एवं समाधान एक चुनौती है। इसके लिए मनोविकारों के स्वरूप का विश्लेषण, समझ, नियन्त्रण और निदान आवश्यक है। अतः सामाजिक व्यवस्था का संचालन आत्म-संयम, त्याग एवं श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को अपना कर करना चाहिए। इस संदर्भ में प्लेटों का यह कथन स्मरणीय है- **'' हमारे नगर (राज्य) में दुःखों की समाप्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक दार्शनिक (विवेकशील विचारक) राजा (शासक) न होंगे और राजाओं एवं राजकुमारों में दार्शनिक भाव एवं दृष्टि न होगी।''**[18] प्लेटो के कहने का निहितार्थ यह है कि जब तक राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था नैतिकता से युक्त नहीं होगी तब तक राज्य में सुख और शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है।

इससे स्पष्ट है कि सामाजिक शान्ति और सौहार्दपूर्ण व्यवस्था को स्थापित करने में समाज के विवेकपूर्ण एवं सद्गुणी नागरिकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अतः आत्म-संयम, त्याग, श्रम-विभाजन का सिद्धान्त एवं दैवी संपद् ही वैश्विक शान्ति का पथ-प्रशस्थ कर सकते हैं। वस्तुतः गीता में शान्ति की अवधारणा समग्रतामूलक है। लौकिक जीवन में शान्ति से लेकर परम शान्ति, परमानन्द, स्थितप्रज्ञता, ब्राह्मी अवस्था, स्वधर्म का पालन एवं वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान शान्ति की ओर ले जाते हैं। गीता का दर्शन आज के बदलते हुए वैश्विक समाज के लिए अत्यन्त प्रासंगिक एवं प्रभावशाली है। वैश्विक समाज की आर्थिक अवधारणा, विज्ञान एवं तकनीकी के प्रभाव को गीता के आध्यात्मिक एवं नैतिक सिद्धान्त से समन्वित करके विश्व-शान्ति एवं मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्थ किया जा सकता है।

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान।
   आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्येते।। गीता 2/55
   विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाश्चरति निःस्पृहः।
   निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। गीता 2/71

2. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्धा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। गीता 4/39
3. न जातुः कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
4. गीता 2/62-63, (स्वामी अड़गड़ानन्द, यथार्थगीता, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट; की टीका) पृ0 60-61
5. चच्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढ़म।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। गीता 6/34
6. महात्मा गाँधी, सत्य के प्रयोग की मेरी कहानी, (अनुवादक) काशिनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन, अहमादाबाद (1957) पृ0 453-454
7. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। गीता 6/35, वही, पृ0 156
8. एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। गीता 2/72
9. गीता 3/27
10. वही, अड़गड़ानन्द, (गीता 18/13-15)
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। (गीता 18/14)
11. धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।। गीता ष्प्
12. गीता 16/1-5
13. गीता, 16/18 अहंकारं बलं दपं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
14. गीता 16/13-14
15. गीता, 16/21 त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।
16. गीता 4/13 चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विध्दयकर्तारम0ययम्।।
17. हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पी. एच. प्रभु, पापुलर प्रकाशन बम्बई (मुम्बई) 1979,पृ0 75 पर उद्धत पाद-टिप्पणी में ई.जे. अरविक- ने लिखा है-
"Perhaps Plato barrowed the ideas he has expressed in his dialoque from India's Vedic thought." देखिये मेसेज आफ प्लेटों, अधयाय दो (परिशिष्ट)
18. "Only a philosopher king is fit to guide a nation. Until philosophers are kings, or the kings and princes of this world have the spirit and power of Philosophy and wisdom, and political leadership meet in the same man,— — — — — — — —cities will never cease from evil, nor the human race."(Plato, Republic 473). ''स्टोरी ऑफ फिलाफसोफी, विल डूराँन्ट, वाशिंगटन स्क्वायर प्रेस, न्यूयॉर्क 1961, से उद्धृत, पृ0, 23''

आचार्य शंकर का जगत् मिथ्यात्व

डॉ0 नमिता
पूर्व शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग
बीर बहादूर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

आचार्य शंकर अद्वैतवादी दार्शनिक हैं जो कि एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं। अद्वैत शब्द का अर्थ ही होता है कि दूसरा नहीं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में एक मात्र सत् (1) तत्त्व ब्रह्म ही है। इसलिए शंकर अपने तात्त्विक विवेचना में इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' अर्थात् एकमात्र ब्रह्म की सत्ता है दूसरा नहीं । शंकर के इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि वे तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से पूर्णतया एकतत्ववादी हैं। उनकी दृष्टि में एक ही चित् तत्त्व सत्तावान है तथा अन्य समस्त सत्तायें उसी एक ही सत्ता पर आधारित है। शंकर के इसी एक तत्ववादी चिन्तन के आधार पर ही उनका जगत विचार का सिद्धान्त आधारित है।

शंकराचार्य की दृष्टि में परमतत्त्व एक हैं।[1] जगत् की अनेकता के आधार पर परमसत् को अनेक मान लेना यह न्यायायिक नहीं है। एक में अनेक की अनुभूति संभव है, उपनिषद् की व्याख्या के आधार पर उन्होंने यह प्रमाणित किया कि ''एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति ''[2] अर्थात् परमसत् एक ही है जिसे विद्वान लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि में श्रुतियों के निम्न कथन को पुष्टि करते हुए कहते हैं कि ''वास्तव में परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय और अविकारी एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें कोई नाना पदार्थ नहीं है।[3] परिपूर्ण नाधन्तम् प्रमेय मणिक्रियम'' एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।।। जो धनीभूत सत् चित् और आनन्द है, ऐसा एक नित्य, अक्रिय और अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें नाना पदार्थ कोई नहीं है। सत् चित् और आनन्द है, ऐसा एक नित्य, अक्रिय और अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें नाना पदार्थ कोई नहीं है।[4] सद् धनं चित्धन नित्यमानन्द धनम् क्रियम। एकमेवाअद्वैव ब्रह्म नेह नानासित किंचन।।

जो न त्याज्य है, न किसी में स्थित होने योग्य है तथा जिसका कोई अन्य आधार भी नहीं है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, उसमें नाना पदार्थ कोई नहीं है।[5] जो गुण और कला से रहित है, सूक्ष्म निर्विकल्पक है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, उसमें नाना पदार्थ कुछ भी नहीं है।[6] जो सत्य, वैभवपूर्ण स्वतः सिद्व शुद्व बोध स्वरूप् और उपमा रहित है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, उसमें नाना पदार्थ कुछ भी नहीं है।[7]

इस प्रकार आचार्य शंकर अपने अद्वैतवाद में उस तत्व को ''ब्रह्म'' की संज्ञा देते है। शंकराचार्य ब्रह्म शब्द का तात्पर्य उस परमदेव से लगाते है जिसकी सत्ता एवं अनंत शक्ति पर जगत् के सभी पदार्थ अस्तित्व रखते हैं या निर्भर रहते हैं। ब्रह्म ही परमसत्ता है। उसे ''सत्यं ज्ञानं एवं अनन्तम्'' कहा गया है। वह सच्चिनानंद है। वह ब्रह्म ही एक तत्व है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्व का अस्तित्व नहीं है। उपनिषद् भी इस बात को स्वीकारता है कि- ''एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति''[8] अर्थात् सत्ता की दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है और दूसरे किसी को भी सत्ता यथार्थ नहीं है। इसलिए उपनिषद् में द्वितीयोनास्ति का प्रयोग किया गया है। न अस्ति का अर्थ ही है-एकदम न होना। इस प्रकार आचार्य शंकर ने अपने तत्त्ववादी सिद्वान्त में एक मात्र ब्रह्म के ही अस्तित्व को स्वीकार किया और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का भी अस्तित्व यथार्थ नहीं है।[9]

चूंकि शंकराचार्य सत्ता की दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं फिर भी शंकराचार्य के सामने यह प्रश्न होता है कि जगत् क्या है, यदि जगत् कार्य है और ब्रह्म कारण तो फिर कारण

और कार्य नामक दो तत्वों का अस्तित्व हो जायेगा- एक कारण और दूसरा कार्य। अर्थात् एक ब्रह्म और दूसरा जगत् चूंकि शंकराचार्य एकतत्ववादी दार्शनिक है, इसलिए वे किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शंकर अपने अद्वैत वादी दर्शन में कार्य और कारण की यथार्थ सत्ता का ही निषेध कर दिया और यह प्रमाणित किया कि'' ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या''[10] और विवेक चूड़ामणि-चूड़ामणि शंकराचार्य श्लोक 20 ।। अर्थात् सत्ता की दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म की सत्ता है, जगत् की सत्ता तो मिथ्या या अयथार्थ सत्ता है। इस व्याख्या से ब्रह्म के यथार्थत्व और जगत् का मिथ्यात्व प्रमाणित हो जाता है। यहॉ शंकराचार्य ने कार्य कारण के विभेद को ही समाप्त कर दिया और स्वप्नवत्[11] सिद्व किया। जिस प्रकार स्वप्न की दुनिया स्वप्नावस्था तक सत्य है,दुनिया असत्य ही है, सत्य प्रतीति भर है, इस प्रकार स्वप्न का वह जगत् यथार्थ नहीं प्रतीति मात्र है। उसी प्रकार शंकराचार्य की दृष्टि में यह जगत् भी यथार्थ नही प्रतीति मात्र है। इस प्रकार शंकराचार्य जगत् को प्रतीति मानकर उसके मिथ्यात्व को प्रमाणित कर देते है। जगत् का ब्रह्म का विवर्त है।[13] जगत् के मिथ्या होने के कारण ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता । जगत् के बल नाम रूपात्मक ही है।[14] उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। ईश्वर जगत् की दृष्टि में उसकी कोई इच्छा भी नहीं हो सकती। वह पूर्ण व परितृप्त है। शंकर के अनुसार सृष्टि ईश्वर की लीला है। उसके सभी कार्य लीलावत् स्वभावतः होते रहते है। शंकर कहते हैं कि यह जगत् जो सत्य प्रतीत होता है, वह माया के कारण होता है।

शंकराचार्य जगत् के मिथ्यात्व को प्रमाणित करते हुए जगत् के कारण रूप में माया की सत्ता को स्वीकार कहते है। तथा यह प्रमाणित करते है कि यह जगत् का परिणाम है। माया के कारण ही यह जगत् हमें सत्य प्रतीत होता है। शंकराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यदि माया है, अज्ञान है तभी यह जगत् है। माया की समाप्ति पर यह जगत् ब्रह्म नहीं माया के अज्ञान का परिणाम है। अब फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि जगत् का कारण माया है, तो फिर ब्रह्म और माया का द्वैत हो जायेगा। किन्तु शंकराचार्य यहॉ किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि माया ब्रह्म की शक्ति।[16]

माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में प्रमाणित करते हुए शंकराचार्य ब्रह्म और माया में अद्वैत प्रमाणित कर देते है। तथा यह स्वीकार करते है चूकि शक्ति और शक्तिमान में अभेद होता है। यदि माया शक्ति ह।, तो अवश्य ही ब्रह्म से उसका अभेद सम्बन्ध हैं चॅूकि सत्ता की दृष्टि से शक्ति, शक्तिमान पर आश्रित होती है।[17]

शक्तिमान के बिना शक्ति का कोई अर्थ या मूल्य नहीं होता, इस लिए माया का भी ब्रह्म से स्वतंत्र अर्थ या मूल्य नहीं है। माया वस्तुतः ब्रह्म पर आश्रित है, और ब्रह्म की शक्ति है। माया तत्व नहीं है, तभी तो अद्वैत है। यदि माया तत्व नहीं तो ब्रह्म और माया में किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। तात्पर्य यह कि ब्रह्म तो पूर्णरूप से स्वतंत्र है, परन्तु माया ब्रह्म पर पूर्णरूपेण से आश्रित है।[18] यहॉ प्रश्न होता कि यदि ब्रह्म पूर्णरूप से स्वतंत्र है तथा माया उसके उपर पूर्णरूपेणा आश्रित है तो उनके बीच कैसा सम्बन्ध हो सकता है। शंकराचार्य इस प्रश्न के उत्तर में कहते है। कि माया और ब्रह्म में एक पक्षीय आश्रितत्व का सम्बन्ध है।[19] अर्थात् सापेक्ष शक्ति है शंकराचार्य कहते है। परमेश्वर की यह बीज शक्ति अविद्यात्मक अव्यक्त शब्द से कही गयी है। इसे महासुषुप्ति भी कहते है, क्योंकि संसारी जीव अपने यथार्थ स्वरूप् को भूलकर इसकी प्रगाढ़ निद्रा में सोये रहते है।[20] यहॉ ध्यान रखने की बात यह है कि यद्यपि जीव माया से ग्रस्त हे पर ब्रह्म या ईश्वर स्वयं अपनी माया से प्रभावित नहीं होता । जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी जादू से या माया से दर्शकों को तो

प्रभावित कर लेता है, पर वह स्वयं अपनी जादू से माया से प्रभावित नहीं होता , उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया से जीवों को तो प्रभावित कर देता है, पर वह स्वय अपनी माया से तनिक भी प्रभावित नहीं होता।[21] इस प्रकार शंकराचार्य ब्रह्म और माया का भी अभेद प्रमाणित कर देते है, इसमें संदेह नहीं।

शंकराचार्य उक्त समाधान के द्वारा जगत् की अनेकता का भी खण्डन कर देते है। शंकराचार्य अपने अद्वैतवादी दर्शन में यह प्रमाणित करते है कि जगत् की अनेकता का तात्पर्य तत्व की अनेकता तो मात्र भ्रम है,कल्पना है। इन समस्त अनेकताओं के मूल में एक ही तत्व ब्रह्म है, इसीलिए शंकराचार्य कहते है कि ''सर्व ब्रह्म मयंजगत्'' या[22] अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। उपनिषद भी यही कहता है। यदि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है तो अनेकता कहॉ एकता ही तो है,सम्पूर्ण अद्वैत है, कहीं भी द्वैत का कोई प्रश्न ही नहीं है।

फिर शंकराचार्य के सामने यह प्रश्न किया जाता है कि जीव क्या है, क्या जीव ब्रह्म ही है या भिन्न, यदि एक ही है तो ब्रह्म और जीव में क्या सम्बन्ध है। शंकराचार्य अपने अद्वैतवादी दर्शन में ब्रह्म और जीव के द्वैत को भी समाप्त कर देते है। शंकराचार्य जीव को ब्रह्म ही मानते है तथा इस बात को स्वीकार करते है कि'' जीवों ब्रह्मदेव नापरः''[23] अर्थात् जिसे हम जीव कहते है वह ब्रह्म ही है और दूसरा कुछ नहीं। यह जीव और ब्रह्म वस्तुतः एक ही है। तात्विक एकता का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का स्वरूप् जीव का स्वरूप् है। ब्रह्म से भिन्न तत्व जीव तत्व नहीं है। यदि आचार्य शंकर ''एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति''[24] की धारणा को दार्शनिक एवं वैचारिक दृष्टि से प्रमाणित करते है। तो इस कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि ब्रह्म के अतिक्ति और कोई दूसरा तत्व है ही नहीं, फिर जीव के भिन्न तत्व होने का प्रश्न ही नही उत्पन्न नहीं हो सकता । जीव वस्तुतः वही है जो ब्रह्म के अभेद को प्रमाणित करते है।

जहॉ तक जीव के स्वरूप का प्रश्न है, आचार्य शंकर यह प्रमाणित करते है कि माया के आवरण से आच्छादित ब्रह्म का स्वरूप ही जीव है। अर्थात् आवरण युक्त ब्रह्म जीव है। आवरण रहित ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म और जीव में आवरण का विभेद है और वह आवरण एक सीमा है, इसीलिए जीव की सीमता हो सकती है, जबकि ब्रह्म असीम है, क्यांकि वह आवरण से रहित है। यहॉ शंकर यह प्रमाणित करने का प्रयास करते है कि जीव आवरण की सीमा में होते हुए भी ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि जो स्त्यचित् आनन्द का स्वरूप् है। वही जीव का भी मौलिक स्वरूप है। शंकराचार्य कहते है कि जो तत्व आग है वही तत्व चिनगारी भी है, अन्तर सिर्फ आकार का है, गुण का है, तत्व का नहीं। अर्थात् शंकराचार्य यहॉ यह मानते है कि जीव तत्व वस्तुतः ब्रह्म तत्व ही है।[25]

जीव के स्वरूप की विवेचना में आचार्य शंकर पुनः यह कहते है कि माया -शक्ति के कारण जीव अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है। चूंकि माया अविद्या का सृजन करती है अविद्या के आवरण से आवरित ब्रह्म जीव के रूप में अपने स्वरूप को ही भूल जाता है। वह यह नहीं जाना पाता कि वह अपने मौलिक स्वरूप में ब्रह्म है। इसलिए उपनिषद में सबसे पहले गुरू अपने शिष्य से यही कहते है कि आत्मानम्विद्धि '' अर्थात् अपने आपको जानो। संसारी जीव मोह निद्रा के कारण अपने आपको ब्रह्म न मानकर जीव मान लेने की भूल करता है और यह भूल ही माया है, अविद्या है, अज्ञान है, भ्रम है।[26]

शंकराचार्य जीव की विवेचना में उपनिषदों के उस महासूत्र को स्वीकार करते है जिसमें यह कहा गया है कि '' तत्वमसि''[27] जिसका अर्थ तत् त्वम् असि अर्थात् ''तुम वहीं हो'' अपने आपको जानने की प्रक्रिया में यह ज्ञान आवश्वक है कि यह ज्ञान हो जाय कि जीव ब्रह्म ही है। जबकि जब तक जीव, है उसे यह ज्ञान होना सहज नहीं है, क्योंकि माया भी तो ब्रह्म की शक्ति है। उसे हटाना उसके अज्ञान को समाप्त करना , मोह निद्रा को भंग करना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।[28]

यही कारण है कि जीव अपने आपको जीवन भर ही मानता रहता है। इसलिए उसे कहा जाता है कि यह ज्ञान प्रज्ञपत करना आवश्यक है कि तुम वही ब्रह्म हो जो अनादि, असीम और अनन्त तत्व है।[29]

शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की विवेचना में इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् जीव और ब्रह्म में पूर्ण अभेद हो जाता है।[30] उपनिषद् में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि ''ब्रह्मविदब्रह्मैव' भवति'' [31] अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं अर्थात् अज्ञान है, अविद्या है, मोह है, भ्रम है, तभी तक जीव और ब्रह्म में भेद प्रतीत होता है।[32] ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् तो जीव और ब्रह्म का यह विभेद स्वतः समाप्त हो जाता है। जीव अपनी स्वरूपतामक की प्राप्ति कर लेता है। यही शंकर का अद्वैतवाद जहॉ वे ब्रह्म और जीव की एकारता को तार्किक एवं दार्शनिक दृष्टि से प्रमाणित कर देते है।[33] यही शंकराचार्य यह भी प्रमाणित करते हैं कि अज्ञान की समाप्ति पर जीव तत्व जो अपने आप में ब्रह्मतत्व है, ब्रह्म तत्व में मिलकर एक हो जाता है, फिर उसे अनेकता की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म तत्व में विलीन होने के पश्चात् माया ब्रह्म की ही शक्ति है।[34] फिर माया का अविद्यात्मक प्रभाव वहॉ नहीं पड़ता। यही है ब्रह्म और जीव की एकाकारता का सिद्वान्त।[35]

शंकराचार्य अपने एकतत्ववाद की पुष्टि में ब्रह्म एवं आत्मा का अभेद भी प्रमाणित कर देते है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और आत्मा में कोई भेद नहीं है आत्मा ही ब्रह्म है। निम्न उद्वरणों से आत्मा और ब्रह्म क मालूम होते है।[36]

और बृहदारण्यक[37] आत्मका[38] उपनिषद् में कहा गया है कि , यह सब कुछ आत्मा ही है।[39] बृहदारण्यकों उपनिषद् फिर कहता है'' आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[40] इसी तरह छान्दोग्योपनिषद कहता है '' आदि में केवल सत् था, दूसरा कुछ नहीं था।[41] पुनः छान्दोग्य और मण्डक- सर्वखल्विदं ब्रह्म[42] एवं इदम् विश्वम्[43] में कहा गया है कि यह सब कुछ ब्रह्म है। इन सब वाक्यों में ब्रह्म और आत्मका एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए है। कहीं-कहीं तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है''[44] मै ब्रह्म हूॅ [45] उपनिषदों के इस मत को शंकराचार्य अपने एकतत्ववादी दर्शन में अपनाते है। शंकराचार्य का विचार है कि आत्मा ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है। वह अग्नि की चिनगारी के समान है। ब्रह्म व आत्मा का समन्वयन करके आचार्य शंकर ने सब तरह के द्वैत का निराकरण करके पारमार्थिक ज्ञानात्मक व मूल्यात्मक अद्वैतवाद की स्थापना की है। आत्मा व ब्रह्म के विषय में उपनिषदों में यह मत मिलता है कि ''सीमित जगत् में समान से समान निकलने पर कुछ नहीं बचता है।[46]

वास्तव में शंकराचार्य के मतानुसार जगत् की सृष्टि, प्रलय ,जीव तथा ईश्वर के भेद इत्यादि का केवल व्यावहारिक महत्व है।[47] पारमार्थिक दृष्टिकोण से केवल ब्रह्म ही सत्य है।[48] वही आत्मा है तथा माया के अज्ञान के कारण जीव, जगत् आदि के रूपां में दिखलाई पड़ता है।

फिर शंकराचार्य के सामने यह प्रश्न होता है कि क्या है ईश्वर ही ब्रह्म है या दोनों सत्ताएं हैं यदि वे दो सत्ताएं है तो ब्रह्म और ईश्वर का द्वैत हो जायेगा । शंकराचार्य अपने एकतत्ववाद की पुष्टि में इस द्वैत का भी निराकरण करते है। शंकराचार्य के अनुसार वहीं ब्रह्म जब, माया से इस जगत् की उत्पत्ति करता है तो वही ईश्वर कहलाता है।[49]

शंकराचार्य के अनुसार सगुण ब्रह्म ही ईश्वर है।[50] यह माया से युक्त रहता है जब ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति करता है तो तटस्थ लक्षण रूप धारण कर लेता है और तब यह सगुण ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। वेदान्त के विषय में प्रचलित धारणा यह है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है तथा ब्रह्म सृष्टिकर्ता नहीं हैं किन्तु शंकराचार्य ने पर ब्रह्म को ही सृष्टि का मूल माना है। श्रुति स्मृति और न्याय से सिद्व

है कि एक पर ब्रह्म है और वह जगत् का कारण है।[51] यहॉ कारण का वास्तविक अर्थ अधिष्ठान है'' परमात्मा से ही सृष्टि होती है। संसारी ईश्वर में सृष्टि की स्थिति संहार और ज्ञान की सामर्थ्य नहीं है,[52] परमात्मका के बिना संसारी ईश्वर है ही नही।[53] वास्तविक रूप से सृष्टि की सामर्थ्य मामना तथा ब्रह्म में सामर्थ्य का अभाव दिखाना यह सिद्व करता है कि ईश्वर ब्रह्म से अधिक शक्तिशाली है। परन्तु जब ब्रह्म को ईश्वर का भी मूल माना गया , तब उस परमब्रह्म में सृष्टि की सामर्थ्य का अभाव कैसे माना जा सकता है। यही कारण कि शंकराचार्य के अनुसार पीर ब्रह्म की सृष्टि का मूल है। उसी का ज्ञान परमश्रेय है।[54]

ब्रह्म वास्तव में निर्विकल्प और सभी विशेषों से रहित है, पर उपाधिवश उपासना के कारण वा उपास्य उपासक रूप में प्रकट होता है[55] एक ही ब्रह्म के दो रूप है नाम रूप उपाधियों से भिन्न ब्रह्म जो निर्विकल्प अनुभूति का विषय है तथा दूसरी ओर वह ब्रह्म जिसमें नाम रूप इत्यादि उपाधियों पायी जाती है।[56] ब्रह्म और ईश्वर वास्तव में दो नहीं, वरन् एक ही है। ब्रह्म को जब हम सृष्टिशक्ति से सम्पन्न देखते है तो वह ईश्वर रूप् व्यक्त होता है।[57] ईश्वर नित्य शुद्व , बुद्व, स्वतंत्र और सर्वज्ञ है। वह माया के सत्वगुण से अवछिन्न है। वह भोक्ता भी नहीं है वह केवल नित्य साक्षी के रूप में जीवों के सुख, दुःख को देखता रहता है, पर वह स्वय उससे प्रभावित नहीं होता।[58] ईश्वर जगत् की सृष्टि स्थिति और लय तीनों का कारण है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है।[59] ब्रह्म कारण ब्रह्म है, ईश्वर कार्य ब्रह्म है। ब्रह्म निष्क्रिय है, पर ईश्वर निष्क्रिय है, पर ईश्वर सक्रिय है ब्रह्म तुरीरावस्था में प्राप्त होता है, ईश्वर सुषुप्ति की अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था अज्ञान की अवस्था होते हुए भी नाना प्रकार के रूपों को उत्पन्न करता है।[60] ब्रह्म चार रूपों का चार प्रकार के चेतना की अवस्थाओं एवं चार प्रकार के चैतन्य की अवस्थाओं एवं चार प्रकार के शरीरों के साथ सीधा सम्बन्ध होता हैं-

चैतन्यावस्था	षरीर- आत्मा के रूप	ब्रह्म के रूप
1. जागृत	स्थूल शरीर	विश्व विराट
2. स्वप्न	सूक्ष्म शरीर	तेगजस हिण्यगर्भ
3. सुषुप्ति	कारण शरीर	प्राज्ञ ईश्वर
4. तुरीय	आत्मा	ब्रह्म

शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर ब्रह्म का ही एक विलक्षण आभास है।[61] उसके अनुसार ईश्वर व जीव ब्रह्म के आच्छादित कर ईश्वर या विभिन्न जीवों को उत्पन्न करती है। ये सभी प्रश्न वेदान्त अस्वीकार्य प्रश्न है। जब तक हम माया या अविद्या से ग्रस्त रहेंगे, तब तक हम इस रहस्य को नहीं जान सकते। किन्तु जब हम माया या अविद्या से मुक्त हो जायेगे, उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहेगा। ईश्वर व जीव सभी कुछ ब्रह्म में लीन हो जायेगें।

इस प्रकार आचार्य शंकर के एकतत्ववादी दृष्टिकोण में उपरोक्त व्याख्या से यह प्रमाणित होता है, कि शंकर वेदान्त-दर्शन पूर्णतया अद्वैत वादी दर्शन है, क्योंकि किसी भी रूप में कही भी शंकर द्वैत को स्वीकार नहीं करते ।[62] ब्रह्म केवल चित् है, अतः जड़ की सत्ता नहीं इसी क्रम में शंकर ने ब्रह्म और जगत् , ब्रह्म और जीव, ब्रह्म और माया, ब्रह्म और ईश्वर में किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं किया और अपने अद्वैतवादी दर्शन में यह प्रमाणित किया कि ''एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति'' अर्थात् तत्व एक है और वह ब्रह्म ही है। इस व्याख्या के आधार पर ही शंकर अपने दर्शन को पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन प्रमाणित कर देते है। अतएव आचार्य शंकर ब्रह्म के स्वरूप की जो विवेचना की है उससे यह प्रमाणित होता है कि शंकर ब्रह्म को एक एवं अद्वैत मानते है, तथा चित् तत्व के रूप में

परमचेतन सत्ता के रूप ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए '' सर्व खल्विदं ब्रह्म '' की धारणा को प्रमाणित करते है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के अनुसार यद्यपि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, शाश्वत, अनादि अनन्त, निर्गुण निराकार, निर्विशेष निवैयक्तिवक निरूपाधि एव निरंजन तत्व है फिर भी वह अनर्विचनीय है। अर्थात् ब्रह्म के बारे में कोई भी बचन नहीं जानते और जानने पर बताने की आवश्यकता नही। ब्रह्म को इसी कारण आचार्य शंकर अनिर्वचनीय चेतन सत्ता के रूप में ही प्रमाणित करने का प्रयास करते है। जिन किसी भी रूप में ब्रह्म हो, किन्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में आचार्य शंकर ने पूर्ण अद्वैत को प्रमाणित किया ैहै ब्रह्म के सम्बन्ध में वे किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते है। इस प्रकार शंकर का पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन ही ब्रह्मवादी दर्शन है।

आचार्य शंकर अपने अद्वैतवादी सिद्वान्त में जगत् के मिथ्यात्व को प्रमाणित करते है तथा यह स्वीकार करते है कि यह जगत् स्वप्नवत् है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् यथार्थ है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जगत् मिथ्या है। इस प्रकार शंकर का दृष्टिकोण जगत् के सम्बन्ध में व्यावहारिक यथार्थवाद एवं पारमार्थिक मिथ्यावाद के सिद्वान्त पर आधारित है। जगत् में माया ब्रह्म की शक्ति है। चूकि शक्ति एवं शक्तिमान में अभेद है। अतः माया की स्वीकृति से उनके सिद्वान्त में द्वैतवाद परिलक्षित नहीं होता है। यहा शंकर के माया सिद्वान्त का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक है। शंकर माया के जिस स्वरूप को स्वीकार करते है उसका संक्षिप्त विवेचन संक्षेप में हम निम्नलिखित रूपों में कर सकते है -

1- माया जगत् की मूल प्रकृति है। शंकर माया को जगत् की मूल प्रकृति के रूप में भी प्रमाणित करते है। वे श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य में कहते है कि मायान्त् प्रकृति विधन्यायिनं तु महेश्वरम[63] अर्थात् माया मूल प्रकृति है और जो माया का स्वामी है वह महेश्वर या ब्रह्म है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति ब्रह्म की प्रवृत्ति है, ब्रह्म से पृथक प्रकृति का अस्तित्व नही है, इसलिए आचार्य शंकर ने जगत् सृष्टि के क्रम में माया को मूल प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है।

2- शंकर के अनुसार माया त्रिगुणात्मिका है। वह सत्य, सत्व, रज और तम् से युक्त है। इस अर्थ में माया संख्या दर्शन के प्रकृति से समानता रखती है क्योंकि प्रकृति में सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण होते है , परन्तु सांख्य दर्शन की प्रकृति और शंकर के माया में भेद है। प्रकृति स्वतंत्र है और माया परतंत्र है, और ब्रह्म के अधीन है। यद्यपि सांख्य दर्शन की प्रकृति के समान माया जड़ रूप भी है, परन्तु यह प्रकृति के समान स्वतंत्र नहीं है, यह अचेतन भी है, परन्तु सत् नहीं है, इस प्रकार माया को सांख्य की प्रकृति नहीं कहा जा सकता है।[64] आचार्य शंकर माया के त्रिगुणात्मिका स्वरूप को स्वीकार किया है। अर्थात् माया में संतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों विद्यामान है और समविन्त भी है। यही कारण है कि इस जगत् में सत् रज औ तम् तीनो ही गुण विद्यमान है, शंकर का विचार है कि यदि माया के मौलिक रूप में इन तीनों ही गुणों की विद्यमानता न होती तो जगत् के इस रूप में इन तीनों गुणां से युक्त प्रतीत होता है। अर्थात् माया अविद्या के माध्यम से इस जगत् में सत्, रजऔर तम् नामक तीनों ही गुणों को प्रसारित कर दिया है। यही कारण है कि जगत् में हम तीनों गुणों की अनुभूति करते है।

3- शंकर स्वयं अपने विवेक चूड़ामणि में इसका उल्लेख करते हुए कहते है कि - ''रज्जू के ज्ञान से सर्प भ्रम के समान वह अद्वितीय शुद्व ब्रह्म के ज्ञान से ही नष्ट होने वाली है। अपने -अपने प्रसिद्व कार्यों के कारण सत्, रज और तम् ये उसके तीन गुण प्रसिद्व है।[65] शंकर भाष्य में कहा गया है कि -क्रिया रूपा विक्षेप शक्ति रजोगुण की है जिससे सनातन काल से समस्त क्रियायें होती आयी है और जिससे रामदि और दुःख आदि जो मन के विकार है, सदा उत्पन्न होते है।

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया, अभिमान, ईर्ष्या और मत्सर ये घोर धर्म रजोगुण के है। अतः जिसके कारण जीव कमी में प्रवृत्ति होता है। वह रजोगुण ही उसके बन्धन के कारण है।[66] आचार्य शंकर तमोगुण के विषय में कहते है कि जिसके कारण वस्तु कुछ की कुछ प्रतीत होने लगती है वह तमोगुण की आवरण शक्ति है। यही पुरूष के जन्म मरण रूप। संसार का आदि कारण है और यही विक्षेप शक्ति के प्रसार का भी कारण है। तम से ग्रस्त हुआ पुरूष अति बुद्विमान, विद्वान, चतुर और शास्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म अर्थो को देखते वाला भी हो तो भी वह नाना प्रकार समझाने से भी अच्छी तरह नहीं समझता, वह भ्रम से आरोपित किये हुए पदार्था को ही सत्य समझता है और उन्हीं के गुणों का आश्रय लेता है। अहो। द्वरन्त तमोगुण की यह महती आवरण-शक्ति बड़ी ही प्रबल है। इस आवरण शक्ति के संसर्ग से युक्त पुरूष को अभावना, विपरीत भावना, असम्भावना और विप्रतिपत्ति ये तमोगुण की शक्तियॉ नहीं छोड़ती और विक्षेप शक्ति भी उसे निरन्तर डॉवा डोल ही रखती है। अज्ञान, आलस्य ,जड़ता, निद्रा, प्रमाद, मूढ़ता आदि तम के गुण है। इनसे युक्त हुआ पुरूष कुछ नहीं समझता, वह निद्रालू या स्तम्भ के समान जड़वत रहता है।[67]

सत्वगुण के विषय में शंकर कहतेह है कि सत्व,गुण जल के समान शुद्व है तथापित रज और तम से मिलने पर वह भी पुरूष की प्रवृत्ति का कारण होता है, इसमें प्रतिबिम्बित होकर आत्म बिम्ब सूर्यके समान समस्त जड़ पदाथी को प्रकाशित करता है। अमानित्व आदि, यमनियमादि, श्रद्वा, भक्ति, मुमुक्षुता, दैवी, सम्पत्ति तथा असत् का त्याग ये मिश्र रज, तम से मिले हुए। सत्वगुण के धर्म है। प्रसन्नता आत्मानुभव परमशक्ति, तृत्पि, आत्यन्तिक आनन्द और परमात्मा में स्थित ये विशुद्व सत्वगुण के धर्म है, जिनसे मुमुक्ष नित्यानन्दरस को प्राप्त करता है।[68]

4- माया दो शक्तियॉ है। प्रथम आवरण-शक्ति और द्वितीय विक्षेप शक्ति आवरण शक्ति के द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढ़क लेती है औरी विक्षेप शक्ति के द्वारा एक ब्रह्म के स्थान पर अनेक रूप् जगत् का आभास कराती है। इसी कारण यह अभ्यास या भ्रम रूप कहलाती है। एक दृष्टान्त के द्वारा शंकर कहते है कि ''जिस प्रकार किसी द्वर्दिन में जिस दिन ऑधी , मेघ आदि का विशेष उत्पात हो। सघन मेघों के द्वारा सूर्यदेव के आच्छादित होने पर अति भयंकर और ड्डंडी-ठंडी ऑधी सबको खिन्न कर देती है, उसी प्रकार बुद्वि के निरन्तर तमोगुण से आवृत्त होने पर मूढ़ पुरूष को विक्षेप - शक्ति नाना प्रकार के दुःखो से सन्तप्त करती है। इन दोनो आवरण आवरण और विक्षेप शक्तियों से ही पुरूष को बन्धन की प्राप्ति हुई है और इन्ही से मोहित होकर यह देह को आत्मा मानकर संसार चक्र में भ्रमता रहता है। ''[69] तात्पर्य यह है किसी व अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर इस माया युक्त शरीर आदि को ही सब कुछ समझने लगता है। वह ब्रह्ममय जगत् के स्थान पर वस्तुमय जगत् में फॅस जाता है। शंकर स्पष्ट रूप में कहते है कि जहॉ विक्षेप शक्ति कार्य करती है वहॉ उसके पहले आवरण शक्ति का कार्य आवश्यक है, क्योंकि बिना आवरण के विक्षेप संभव ही नहीं है। यहॉ एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है और माया ब्रह्म पर पर्दा डाल देती है तो इसका अर्थ यह हुआ है कि माया ब्रह्म को सीमित करती है। इसका समाधान करते हुए शंकर कहते है कि जिस प्रकार बादल सूर्य को ढ़क देता है, उससे सूर्य की शक्ति सीमित नहीं होती।ठीक उसी प्रकार माया ब्रह्म पर आवरण करती है, उससे ब्रह्म की शक्ति सीमित नहीं होती।

5- माया अनादि है परन्तु अनन्त नहीं। आचार्य शंकर की विवेचना के अनुसार यदि माया ब्रह्म की शक्ति है तो वह आवश्य ही अनादि है, क्योंकि ब्रह्म अनादि है। तात्पर्य यह है कि यह निश्चित नहीं है। शंकर सिर्फ इतना ही कहते है। कि माया तब से है जब से ब्रह्म है, इसलिए यदि ब्रह्म अनादि है, तो माया भी अनादि है। फिर आचार्य शंकर है। कि माया अनादि तो है। किन्तु अनन्त नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद यह समाप्त हो जाती है। माया अनन्त नहीं है। इसकी तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि माया का अंत है उसका अन्त नहीं होता क्योंकि वह तो ब्रह्म की शक्ति है। किन्तु कहते है कि जब जीव को ब्रह्म ज्ञान हो जाता है तब माया का प्रभाव निश्प्रभावी हो जाता है। इस आवरण आचार्य शंकर माया को अनादि माना परन्तु अनन्त नहीं।

6- माया न तो भाव रूप है न अभाव रूप है और न दोनो है। अपितु यह भाव-अभाव से विलक्षण है अनिर्वचनीय है। शंकर का मत है कि माया सत् नहीं है, क्योंकि इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह असत् भी नहीं है, क्योंकि यह जगत् को प्रेक्षेपित करती है। चूँकि यह न तो सत् है और न ही असत् है, इसी कारण इस सद्सदनिर्वचनीय कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि माया को सत् नहीं कहा जा सकता , क्योंकि यदि माया को सत् मान लिया जाय तो अद्वैतवाद की स्थापना नहीं की जा सकती है, क्योंकि तब दो तत्वों का अस्तित्व हो जायेगा, चूँकि शंकर अद्वैतवादी है, इसलिए माया को सत् नहीं मानते। यह असत् भी नहीं है। क्योंकि इसका अनुभव होता है। यह सत् असत् दोनों नहीं है, क्योंकि ऐसा कहना आत्म विरोध है कोई भी वस्तु सत् अथवा असत् दोनों में से ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह न तो पूर्ण रूपेण सत् है और पूर्णरूपेण असत् ही। इस प्रकार सत् और असत् से विलक्षण माया को आचार्य शंकर इसी अनिर्वचनपीयता को प्रभावित करते हुए ''विवके चूड़ामणि'' में कहते है कि ''वह न सत् है, न असत् है और न सत् असत् उभय रूप है, भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्न-भिन्न उभयरूप है। न अंग सहित है, न अंग रहित है और सांगानंग उभयात्मिका ही है। किन्तु अत्यन्त अद्भूत और अनिर्वचनीयता जो न कहीं जा सके ऐसी है। [70] इस प्रकार माया की अनिर्वचनीयता प्रमाणित हो जाती है।

7- माया अध्यास रूप है। इसके द्वारा हमें एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आभास होता है। शंकर अध्यास की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि जहॉ जो वस्तु नही है वहॉ उसे कल्पित करना, अध्यास कहलाता है। चूकि शंकर का मत है कि आत्मा को अनात्मा या अनात्मा को आत्मा समझ लेना ही अध्यास है, प्रकाश को अंधकार और अंधकार को प्रकाश समझ लेना अध्यास है, प्रकाश को अंधकार और अंधकार को प्रकाश समझ लेना ही अध्यास है, रस्सी को सर्प और सर्प को रस्सी समझना अध्यास है। मिथ्यास को सत् मान लेना और सत् को मिथ्या मान लेना ही तो अध्यास है। इस प्रकार माया अध्यास रूप है क्योकि माया जगत को जो कि मिथ्या है। सत् आभसित कराती है और जगत् सत्य प्रतीत होने लगता है। यही अध्यास और भ्रम। अश्रान के कारण बहुधा एक ऐसे काम कर बैठते हैं जो ठीक नहीं होते। उदाहरण के लिए पानी समझकर पात्र मे रखें हुए चीनी के शरबत से पैर धो डालना अज्ञान है। जगत् ही सब प्रकार के भ्रमों का कारण है। उदाहरण के लिए अज्ञानवश रस्सी का देखकर सॉप समझ लेना अथवा ठूठे पेड़ खड़ा देखकर भूत या प्रेत समझ लेना या शून्य में किसी का स्वर सुनाई पडना अथवा अॅधेरी रात में अपने पीछे किसी के आने का आभास होना आदि अज्ञान के कारण ही होते है, भ्रमवश होते है। शंकर यहॉ स्पष्ट कर देते है कि माया जिन वस्तुओ को आच्छादित करती है उनका आदि तो है परन्तु खुद माया आनादि है। अध्यास स्वंय माया नही

है। अपितु माया का परिणाम मात्र है, इस प्रकार माया अध्यास रूप प्रमाणित हो जाती है। यहॉ एक बात बहुत आवश्यक है कि शंकर जब कहते है कि माया अध्यास है, माया भ्रम है, माया अविद्या या अज्ञान है तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खडा हो जाता है कि क्या माया अविद्या, अज्ञान, ज्ञान, भ्रम, अध्यास आदि एक ही है परन्तु वाद के वेदान्ती माया और अविद्या को अलग-अलग मानते है। उनके अनुसार माया ब्रह्म की भावात्मक शक्ति है और अविद्या निषेधात्मक या अभावात्मक।

8- माया क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। यह व्यावहारिक विर्वत मात्र है और इसका विवर्त ही यह संसार है। शंकर कहते हैं कि उसके एक नहीं अनेकों रूप है, इसी कारण वह अनिर्वचनीय कही जाती है। उदाहरण स्वरूप जब हम रस्सी को सॉप समझ बैठते है तो उस समय रस्सी ही हमारे लिए सॉप हो जाती है। हम उतना ही डरते हैं जितना कि असली सॉप से डरते है। उसे मारने के लिए लाठी उठा लेते है, परन्तु जब यह तो रस्सी है। हमारा भय दूर हो जाता है। इस प्रकार माया प्रत्येक क्षण परिवर्तित होती रहती है। इस कारण आचार्य शंकर कहते हैं कि माया मिथ्या है, क्यांकि यह विज्ञान निरस्य है। ज्यों ही हमें ब्रह्म या अधिष्ठान का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, माया अदृश्य हो जाती।

9- माया सदैव क्रियाशील रहती है और मोहकता तथा बन्धन माया के ये दो प्रधान गुण है। शंकर कहते है कि चूॅकि माया ब्रह्म की सर्जनात्मक शक्ति है, अतः क्रियाशील है क्योंकि सृष्टि के लिए गतिशील या क्रियाशील होना नितान्त आवश्यक है। इस रूप में माया गतिशील प्रमाणित हो जाती है। शंकर का स्पष्ट रूप से कथन है कि जो मनुष्य माया से प्रभावित है वे संसार के मोह में फॅस जाते है और इस जगत् को ही सब कुछ मानने लगते है, जबकि यह जगत् मिथ्या है, सत् केवल ब्रह्म है जो सब कुछ है। जीव जब माया के जाल में फसता है। तो वही बन्धन मुक्त कहा जाता है। परन्तु जब वह माया की परिधि को पार कर लेता है तो मुक्त हो जाता है। तब उसे माया का बन्धन नहीं प्रभावित कर सकता । यही मुक्ति की अवस्था ही मनुष्यादि की अंतिम अवस्था है। शंकर का कथन है कि इसी अवस्था को प्राप्त करना ही वेदान्त का लक्ष्य है। यही मनुष्य की पूर्णावस्था है जिसमें मनुष्य या जीव, जीव न रहकर ब्रह्म ही हो जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्व हो जाता है कि आचार्य शंकर के दर्शन में माया का जो स्वरूप दृष्टिगोचर हो तो है उसका सारांश निम्न है- माया अनादि व ईश्वर की शक्ति है। माया और ईश्वर तादात्म्य सम्बन्ध है। माया जड़ व अचेतन है। माया भावात्मक है किन्तु यथार्थ नहीं। माया अभावात्मक है किन्तु असत् नहीं। माया अनिर्वचनीय है। माया व्यावहारिक विवर्तमात्र है। माया अध्यास रूप है। माया विर्वत ही यह संसार है। माया का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म है। माया सदैव क्रियाशील है। माया ही विश्व की रचना करती है मोहकता तथा बन्धन इसके प्रधान गुण है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति पर विश्व का मिथ्यात्व खुल जाता है ब्रह्मज्ञान हो जाने पर माया का लोप हो जाता है। माया के नष्ट होते ही ब्रह्म व जगत् का भेद भी मिट जाता है।

अतः आचार्य शंकर के माया सिद्वान्त की उपरोक्त विवेचना से यह प्रमाणित हो जाता है कि आचार्य शंकर ने जगत् के कारण के रूप में माया-शक्ति को स्वीकार किया तथा यह प्रमाणित किया कि तात्विक दृष्टि से ब्रह्म और माया में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है, इसलिए तत्वमीमांसा की दृष्टि से आचार्य शंकर माया को स्वीकार करते हुए भी अद्वैतवाद की पुष्टि कर देते है, इसमें सन्देह नहीं है। आचार्य शंकर दार्शनिक दृष्टि से पूर्ण अद्वैतवादी विचारक है, उनके द्वारा स्वीकृत मायाशक्ति के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है शंकर की दृष्टि में माया तत्व नहीं शक्ति है। इसलिए

उनके चिन्तन में तात्विक द्वैत नहीं है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत् तत्व है और उसी की सत्ता है। अद्वैतवाद की पुष्टि में शंकर ने ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करते हुए ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त सत्ताओं को उन्होंने ब्रह्म का रूप स्वीकार किया है। तथा यह प्रमाणित किया है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत् तत्व है।

शंकर ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को स्वीकार करते है। अर्थात् ब्रह्म अपने में सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। उन्होंने अपनी अद्वैतवादी विचारधारा में यह सर्वत्र प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि माया ब्रह्म की शक्ति है तथा माया द्वारा उत्पन्न यह जगत् मिथ्या है। इसलिए ब्रह्म वह निरपेक्ष्य तत्व है जिसे पूर्ण सत्ता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। चूकि निरपेक्षता ही पूर्णता है इसलिए यदि ब्रह्म निरपेक्ष तत्व है तो वह अवश्यमेव पूर्ण है। शंकर ने एक ओर ब्रह्म को जहॉ सच्चिदानन्द असीम अनंत नित्य शाश्वत आदि रूप में प्रमाणित किया है वहीं दूसरी ओर ब्रह्म अर्निवचनीय भी कहा है। शंकर ने ब्रह्म की अनिर्वचनीयता को प्रमाणित करते हुए कहा है कि ब्रह्म की विवेचना ब्रह्म ज्ञान पर आधारित है किन्तु ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् बह्म की विवेचना सम्भव नहीं हो पाती। ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति। अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है तथा ब्रह्म को ब्रह्म हो जाने पर विवेचना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । इसलिए ब्रह्म की विवेचना अनिर्वचनीय है।

शंकराचार्य अस्तित्व की दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करते है इसलिए यह स्वभाविक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जगत् क्या है? यदि जगत् कार्य है और ब्रह्म कारण तो फिर कारण और कार्य नामक दो तत्वों का अस्तित्व हो जायेगा । इस समस्या के समाधान में शंकर जगत् की कार्यसत्ता का ही निषेध कर देते है। उन्होंने जगत् की यर्थाथ सत्ता का निषेध कर दिया और यह प्रमाणित कर दिया ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या। सत्ता की दृष्टि से जगत् की सत्ता अयथार्थ सत्ता है। इस प्रत्यक्ष जगत् को अयथार्थ मानते हुए आचार्य शंकर अद्वैतवाद की पुष्टि करने का तार्किक प्रयास करते है। शंकर ने यह प्रमाणित किया कि यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से जगत् यथार्थ है, प्रत्यक्ष है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह जगत् पूर्णतया मिथ्या है। इसे शंकर ने आभाष की संज्ञा दी । जगत् को आभाष कहने का उनका तात्पर्य मात्र यह है कि जगत् प्रतीत हो रहा है। किन्तु यथार्थतः है नही। जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में स्वप्न में देखे जाने वाली प्रत्येक वस्तुए यथार्थ प्रतीत होती है किन्तु जागृत अवस्था प्राप्त होते ही उनका अस्तित्व समाप्त है उसी प्रकार यह जगत् भी यथार्थ नहीं प्रतीति मात्र है। शंकर की दृष्टि में जगत् ब्रह्म का विवर्त है। अर्थात् जगत् के मिथ्या होने के कारण ब्रह्म में किसी प्रकार का परिर्वतन नहीं होता। जगत् केवल नाम रूपतामक है उसका कोई अस्तित्व नहीं। इस प्रकार शंकर जगत् को मिथ्या प्रमाणित करते हुए अपने अद्वैतवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते है कि माया के आवरण से आच्छादित ब्रह्म का स्वरूप ही जीव है। अतः जीव वस्तुतः वही है जो ब्रह्म है। जीव और ब्रह्म में तात्वि एकता है। अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप ही जीव का स्वरूप है। ब्रह्म तत्वा से भिन्न जीव तत्व नहीं है। शंकर यह मानते है कि जीवो ब्रह्मैव नापरः अर्थात् जिसे हम जीव कहते है वह भी जीव ही है। इस प्रकार शंकर अपने एक तत्ववादी चिन्तन में जीव और ब्रह्म में अभेद प्रमाणित करते है तथा इसके साथ ही साथ जगत् के मिथ्यात्व को स्वीकार करते हुए उसकी सत्ता का ही निषेध करते है तथा माया को तत्व न मानकर शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए एकतत्ववाद को प्रमाणित करते है। इस प्रकार आचार्य शंकर ने एकतत्ववादी दृष्टिकोण में उपरोक्त व्याख्या से यह प्रमाणित होता है कि शंकर का वेदान्त

इस प्रकार आचार्य शंकर ने एकतत्वादी दृष्टिकोण में उपरोक्त व्याख्या से यह प्रमाणित होता है कि शंकर का वेदान्त दर्शन पूर्णतः अद्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि किसी भी रूप में कहीं भी शंकर द्वैत

को स्वीकार नही करते। ब्रह्म केवल चित् है।[72] अतः जड की सत्ता नहीं। इसी क्रम में शंकर ने ब्रह्म और जगत, ब्रह्म और माया, ब्रह्म और ब्रह्म और ईश्वर मे किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नही किया और अपने अद्वैतवादी दर्शन में यह प्रमाणित किया कि एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति। अर्थात् तत्व एक है और ब्रह्म ही है। इस व्याख्या के आधार पर ही शंकर अपने दर्शन को पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन प्रमाणित कर देते है। अतएव आचार्य शंकर ने ब्रह्म स्वरूप की जो विवेचना की है उससे यह प्रमाणित होता है कि शंकर ब्रह्म को एक अद्वैत मानते है तथा चित् तत्व के रूप मे परम चेतन सत्ता के रूप में ब्रह्मकी सत्ता को स्वीकार करते हुए सर्वम् खलुइदंब्रह्म की धारणा को प्रमाणित करता है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के अनुसार यद्यपि ब्रह्म सच्चिचदानन्द स्वरूप नित्य शाश्वत, अनादि, अनन्त, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निर्वैक्तिक, निरूपाधि एवं नित्य तत्व है। फिर भी यह अनिर्वचनीय है अर्थात् ब्रह्म के बारे में कोई भी वचन नही कहा जा सकता। वचन कहने मात्र से यह प्रमाणित हो जाता है कि हम उसे नहीं जानते और जानने पर उसे बताने की आवश्यक नही। ब्रह्म को इसी कारण आचार्य शंकर ब्रह्म को अनर्वचनीय चेतन सत्ता के रूप में ही प्रमाणित करने का प्रयास करते है। जिस किसी भी ब्रह्म हो किन्तु ब्रह्म के सम्बन्ध मे आचार्य शंकर ने पूर्ण अद्वैत को प्रमाणित किया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में वे किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार शंकर का पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन ही ब्रह्मवादी दर्शन है।[73]

आचार्य शंकर की दृष्टि में प्रमाणित किये गये उपरोक्त तर्कों की विवेचना से यह प्रमाणित हो जाता है कि शंकर का दर्शन तात्विक एकतत्ववादी दर्शन है। तत्व मीमांसा की विवेचना में वे किसी भी रूप में एक से परे किसी तत्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। शंकर भारतीय चिन्तन परम्परा में एक ऐसे चिन्तक है जिन्होंने पूर्ण अद्वैतवादी अवधारणा को ही प्रमाणित किया तथा एक ही तत्व ब्रह्म तत्व को सत् तत्व के रूप में स्वीकार किया। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये विभिन्न तर्कों की विवेचना से यह प्रमाणित हो जाता है कि शंकर तत्व मीमांसा की दृष्टि से पूर्ण अद्वैतवादी दार्शनिक है इसमें संदेह नहीं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. एकमेवद्वितीयम्, छान्दोग्योपनिषद्, शा0भा0 6/2/1।
2. ऋग्वेद् 1/64/46।
3. शंकराचार्य, विवेक चूड़ामणि, श्लोक 465।
4. उपर्युक्त, श्लोक 466।
5. वहन्तो कि अरिमन्गुणाः इति ब्रह्म।
6. सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म– तैत्तीरीयोपनिषद् 2/1।
7. डॉ0 राधाकृष्णन् (1995)ः भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद भाग दो, वेदान्त दर्शन।
8. छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य 6/2/1।
9. डॉ0 राधाकृष्णन् (1995)ः भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद भाग दो, वेदान्त दर्शन।
10. ब्रह्मज्ञानावली माला, शंकराचार्य, 20।
11. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय (1997)ः अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, पृ0 208।
12. उपर्युक्त, पृ0 209।
13. उपर्युक्त, पृ0 188।
14. ईश्वरस्य अनपेक्ष्य किंचित् प्रयोजनान्तरम् स्वभावादेव केवल लीलारूपा, प्रवृत्तिः भविष्यति– पवरमेश्वरस्य लीलव केवलेय अपरिमितशक्तित्वात् शारीरिक भाष्य 2/1/33।

15. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय (1997): अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, पृ0 205।
16. अव्यक्तनाम्नी परमेशंशक्ति रनाविद्यात्रिगुणात्मिका परा। कायानुमेया सुधियैवैमाया, त्यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।। विवेक चूड़ामणि– श्लोक– 110।
17. डॉ0 राधाकृष्णन् (1995): भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद, भाग दो, वेदान्त दर्शन।
18. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय (1997): अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, पृ0 206।
19. बन साइडेड डिपेण्डेन्स।
20. न हि तया बिना परमेश्वरस्य स्रष्टतवं सिद्धयति। अविधात्मिक ही बीजशक्ति अव्यक्त शब्द परमेश्वराश्रया मायामयी महा सुषुप्ति यस्यां स्परूपं प्रतिबोध रहिताः शेस्ते सांसारिणो जीवाः'' शारीरिक भाष्य 1/4/3।
21. यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी विश्वपि कालेषु संस्पृष्यते अवस्तुत्वात् एव परमात्मापि संसार मायया न संस्पृश्यत् इति।'' शारीरिक भाष्य 2/1/9।
22. उपनिषद् दर्शन। सर्व खल्विदं ब्रह्म।
23. ब्रह्मज्ञानावली माला, शंकराचार्य, 20।
24. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1।
25. डॉ0 राधाकृष्णन् (1995): भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद भाग दो, वेदान्त दर्शन।
26. उपाध्याय, बलदेव (1991): भारतीय दर्शन।
27. छान्दोग्योपनिषद्।
28. डॉ0 राधाकृष्णन् (1995): भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद भाग दो, वेदान्त दर्शन और श्रीवास्तव, जगदीश सहाय (1997): अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, पृ0 181।
29. दत्ता एवं चटर्जी (1995): भारतीय दर्शन, पृ0 181।
30. विवेक चूड़ामणि– शंकराचार्य।
31. मुण्डकोपनिषद् 3/2/9।
32. अद्वैतवाद, गंगाप्रसाद उपाध्याय।
33. उपर्युक्त।
34. परमेश्वराश्रया महाशक्तिः – शारीरिक भाष्य 1/4/3।
35. उपर्युक्त।
36. ऐतरेयउपनिषद् शंकरभाष्य, 1/1।
37. वृहदारण्य कोपनिषदभाष्य, 1/4।
38. वा इदं अग्रे आसीत।
39. आत्मा एवं इदं सर्वम्– छान्दोग्य, 7/25/2।
40. आत्मनि खलु अरे दुष्टे श्रुते मते विशाते इदं सर्व विदितम्– वृहदारण्यकोपनिषद 4/5/6।
41. सदेव सौमय इदम् अग्रे आसीत एक एवं अद्वितीयम्– छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1।
42. छान्दोग्योपनिषद्, 3/14/1।
43. मुण्डकोपनिषद्, 2/2/1।
44. अयं आत्मा ब्रह्म– वृहदारण्यक, 2/5/19।
45. अहं ब्रह्मास्मि– वृहदारण्यक, 1/5/10।
46. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।
47. डॉ0 राधाकृष्णन् (1995): भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद भाग दो, वेदान्त दर्शन।

48. उपर्युक्त।
49. दत्ता एवं चटर्जी (1995): भारतीय दर्शन, पृ0 291 और पाण्डेय, संगम लाल (2002): भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण।
50. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय (1997): अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, पृ0 184।
51. परोस्ति असंसारी श्रुति, स्मृतिन्योयश्च, सच कारणं जगत। वृहदारण्यकोपनिषद शां0भा0 2/1/20।
52. उपर्युक्त, परमात्मा एवं सृषिरिति। संसारिणः सृष्टि स्थिति संहार ज्ञान, सामर्थ्यभावं च अवोचाम्।
53. परमात्म व्यतिरेकेण संसारिणोअभावात् वही।
54. जगत्श्चं सन्मूलं तत्परिज्ञानात् परमं श्रेयं इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः।। प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य, 6।
55. शांकर भाष्य, 3/2/12।
56. उपर्युक्त 1/1/11 द्वि रूपंहि ब्रह्मावगम्यतेः रूपं नाम रूप विकास भेदोआधि विशिष्टमु तद्विपरीतन्च सर्वोपाधि विवर्जितम् ।
57. ब्रह्मैव स्वशक्ति प्राकृत्यामिधेयम् आश्रित्य लोकान् सृष्टवा नियन्तुत्वाद ईश्वरः।
58. मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य'' ईश्वरो नित्यं शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वज्ञा सच्चोपाधि ईश्वरों नाश्नाति, प्रेरयिता हम साचुमयो। भोज्य भोक्ता नित्या साक्षीत्व सत्तामावेण।
59. चेतनं ब्रह्मं कारणं प्रकृतिश्चा।
60. शांकर भाष्य, सुषुप्ताख्यमतमोज्ञान बीजं स्वप्न प्रबोधयः।
61. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय (1997): अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, पृ0 185।
62. वेदान्त दर्शन– हरिकृष्णदास गोयन्दका।
63. श्वेताश्वतरोपनिषद्, शांकरभाष्य, 4/10।
64. ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, 1/4/3 और श्वेताश्वतरोपनिपनिषद् शांकर भाष्य, 4/54/11।
65. विवेक चूड़ामणि, शंकराचार्य, श्लोक 1–12।
66. उपर्युक्त, श्लोक, 113, 114।
67. विवेक चूड़ामणि, शंकराचार्य, श्लोक 115 से 118 तक।
68. विवेक चूड़ामणि, शंकराचार्य, श्लोक 119 से 121 तक।
69. विवेक चूड़ामणि, शंकराचार्य, श्लोक 145 से 146 तक।
70. विवेक चूड़ामणि, शंकराचार्य, श्लोक, 1।
71. वृहदारण्यकोपनिषद्, शंकर भाष्य, 3/9/28।
72. वेदान्त दर्शन, हरिकृष्णदास गोयनका।
73. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, हिन्दी की व्याख्या।

योग दर्शन में कैवल्य की अवधारणा

डॉ0 क्षमा तिवारी
अतिथि प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

''आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' बृहदारण्यकोपनिषद् का यह कथन आत्म-दर्शन के मार्ग का निर्देश करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के इस कथन का अभिप्राय यह है कि बिना निदिध्यासन के जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान की उपलब्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती है। चित्त की शुद्धि से ही तत्वज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। उपनिषदों में तत्त्वज्ञान के लिए चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। कालन्तर में महर्षि पतंजलि ने अन्तःकरण की शुद्धि की विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन किया तथा चित्तवृत्ति के निरूद्ध अवस्था को चित्त का स्वात्मन्यवस्थानम् स्वीकार किया। महर्षि पतंजलि ने सूत्र-रूप में जिस स्वतंत्र शास्त्र की रचना की वह योग दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। योग को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं- 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'[1] अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं।

महर्षि पतंजलि के अनुसार त्रिगुणात्मक सृष्टि के दो प्रयोजन हैंः भोग और मोक्ष। पुरुष के भोग के लिए पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति उसके समक्ष विषय उपस्थित करती है, जिसका भोग पुरुष स्वयं को भोक्ता मानकर करता है। पुनः भोग के बाद पुरुष के लिए मोक्ष का सम्पादन भी प्रकृति ही करती है। सुख-दुःख आदि विषयों के आधार, बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरूष भ्रमवश बुद्धि से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वस्तुतः पुरुष स्वभावतया चित्तमात्र है, अविकारी है 'चैतन्यं पुरूषस्य स्वरूपम्'। भ्रमवश स्थापित तादात्म्य से परुष बुद्धिगत धर्मों को अपना धर्म समझकर सुखी और दुःखी होता है। पुरुष और बुद्धि का अनादिकाल से प्रवाहित होने वाला यह सम्बन्ध योगशास्त्र के अनुसार जीव के बन्धन का कारण है। पुरुष एवं बुद्धि के इस अनादि सम्बन्ध का विच्छेद हो सकता है जबकि जीव की समस्त चित्तवत्तियाँ सदैव के लिए शान्त हो जाय और यह चित्तवृत्तियों की शान्ति योग-साधना द्वारा ही संभव है। पुरुष के लिए मोक्ष का सम्पादन भी प्रतिबिम्ब विधि द्वारा ही होता है। बुद्धि में जब सत्त्व-पुरुषान्यथाख्याति का उदय होता है तब इस वृत्ति से विशिष्ट पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् समझने लगता है। समाधि का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते अन्ततः विवेक ख्याति के प्रति भी हेय बुद्धि जाग्रत होती है। इस जागृति से, निरूद्ध होने से बची हुई विवेक ख्याति भी निरूद्ध हो जाती है। चित्त की यह अवस्था वृत्ति रहित चित्त कहलाता है। इसे जीवित योगी की 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। प्रारब्ध कर्म का भोग पूर्ण होने पर 'विदेहमुक्ति' होती है। यह 'केवलस्य भावः कैवल्यम्' अर्थात् पुरुष की केवलता अथवा स्वरूपावस्थिति है।

पतंजलि सांख्य दर्शन के समस्त तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी चित्त को अपने शास्त्र का प्रधान तत्व स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार चित्त शब्द का अर्थ अन्तःकरण है 'योगशब्देनान्तः करणं बुद्धिमुपलक्षयति'[2] जिसमें बुद्धि, अहंकार एवं मन तीनों आ जाते हैं। चित्त त्रिगुणात्मक है, किन्तु इसमें प्रधानता सत्त्व गुण की है। तत्वतः जड़ होने के बाद भी सत्त्व गुण की प्रधानता के कारण चित्त स्वच्छ दर्पण के समान पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है जिससे उसमें चैतन्य का आभास होता है। इस प्रकार अचेतन चित्त चैतन्यस्वरूप पुरुष से प्रकाशित होकर चैतन्य हो जाता है।

चित्तवृत्ति का अर्थ है चित्त का विषयाकार हो जाना। चित्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा विषयों के सम्पर्क में आता है और वह विषयाकार हो जाता है, यही चित्तवृत्ति है। पुरुष चैतन्य के प्रकाश से

चित्तवृत्ति प्रकाशित होती है और जीव को विषयों का ज्ञान होता है। इन वृत्तियों का अनवरत प्रवाह चित्त में चलता रहता है। ये वृत्तियाँ क्षीण होकर अपने संस्कारों को स्थापित करती है और ये संस्कार परिपक्व होकर अन्य वृत्तियों का रूप धारण करते हैं। वृत्तियों से संस्कारों की और संस्कारों से वृत्तियों की उत्पत्ति का यह क्रम चलता रहता है। पतंजलि चित्त की पाँच वृत्तियों का उल्लेख करते हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति।

- प्रमाणः सत्य ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा का साधन प्रमाण है। योग-दर्शन तीन प्रमाण स्वीकार करता है- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। योग दर्शन प्रमाण त्रय से प्राप्त ज्ञान को सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानता है क्योंकि ऐसा ज्ञान पुरूष और बुद्धि के भ्रान्तिमय मिश्रण से प्राप्त होता है। वस्तुओं के स्वभाव के विषय में सत्य ज्ञान केवल योगाभ्यास से प्राप्त होता है। महर्षि व्यास के अनुसार, 'धर्मशास्त्रों (शब्द) द्वारा, अनुमान द्वारा तथा गहन चिन्तन के अभ्यास की उत्कट इच्छा द्वारा वह अपनी अन्तर्दृष्टि को आगे बढ़ाता है तथा उच्चतम योग को प्राप्त करता है।'[3]
- विपर्ययः यह भ्रान्त ज्ञान या विषयों के सम्बन्ध में मिथ्या ज्ञान है। विपर्यय प्रमाण-वृत्ति के द्वारा बाधित होता है। वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु संशय को भी इसी कोटि में रखते हैं।
- विकल्पः यह शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाली वृत्ति है। इससे ऐसे विषय का ज्ञान होता है जिसका इस जगत् में अभाव होता है। व्यास इसे 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' कहते हैं। चैतन्य एवं पुरुष में अभेद होने पर भी चैतन्य को पुरुष से भिन्न समझना विकल्प है।
- निद्राः सुषुप्तावस्था की वृत्तियों को निद्रा कहते हैं। इसमें जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्थाओं का अभाव होता है। निद्रा भी ज्ञानरूप है क्योंकि जागने पर व्यक्ति को अनुभव होता है कि उसे नींद कैसे आयी? यह जाग्रत एवं स्वप्न के अभाव का आलम्बन है।[4]
- स्मृतिः यह संस्कारजन्य ज्ञान है। किसी पदार्थ को उसके पूर्व अनुभव द्वारा छोड़े गये संस्कार द्वारा फिर से उसी रूप में संग्रह करना स्मृति है। यह भी चित्त की एक वृत्ति है।

चित्त की पंचवृत्तियों के साथ कैवल्य में चित्त की दो अवस्थाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका है, जिन्हें व्युत्थान एवं निरूद्ध अवस्था कहते हैं। व्युत्थान अवस्था कार्यावस्था भी कही जाती है जिसमें वृत्तियों की कोई न कोई क्रिया होती रहती है। निरूद्धावस्था में सभी वृत्तियाँ निरूद्ध होकर चित्त के स्वाभाविक रूप में विलीन हो जाती है। चित्त की पाँच भूमियाँ इन्हीं दो अवस्थाओं के अन्तर्गत पायी जाती हैं। पंचभूमियों में क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध क्रमशः प्राप्त होती है।

- क्षिप्तः सत्त्व, रजस एवं तमस के परस्पर सम्मिश्रण से चित्त की वृत्तियों का स्वरूप निर्धारित होता है। क्षिप्त वृत्ति में रजोगुण की प्रधानता होती है। जिससे चित्त चंचल होकर विषयों की ओर उन्मुख हो जाता है। सांसारिक विषयों की ओर निरन्तर प्रवृत्ति होने से वह भटकता रहता है। चित्त की यह अवस्था क्षिप्त भूमिका कहलाती है तथा इस अवस्था में उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्षिप्त वृत्तियाँ कहलाती हैं।
- मूढ़ः चित्त में जब तमोगुण का आधिक्य होता है और सत्व तथा रज उससे नियन्त्रित होते हैं। उस काल में तापस कर्म-संस्कारों के कारण चित्त की प्रवृत्ति अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर होती है। ऐसी दशा में चित्त की इस अवस्था को मूढ़ कहते हैं तथा उसकी वृत्तियाँ मूढ़ वृत्तियाँ कहलाती है।
- विक्षिप्तः जब वृत्ति सत्त्व से रज एवं रज से सत्त्व के मध्य निरन्तर परिवर्तित होती रहे, उनमें स्थिरता का अभाव हो, उस चित्त भूमि को विक्षिप्त चित्तभूमि कहते हैं। विक्षिप्तवस्था में प्रायः साधकों का उल्लेख मिलता है, जिसमें सत्त्व के आधिक्य से तम का आवरण नष्ट हो जाता है

परन्तु रजोगुण की मात्रा वर्तमान रहती है। यद्यपि कभी-कभी रजोगुण का बाहुल्य होने पर स्थिरता का अभाव पाया जाता है।

- एकाग्र- इस अवस्था में चित्त तम एवं रज दोनों गुणों से मुक्त होकर सत्त्व गुण में प्रतिष्ठित होता है। सत्त्व गुण में प्रतिष्ठित होकर चित्त अपने अभीष्ठ विषय की ओर, निर्वात में दीपशिक्षा की स्थिरता, एकाग्र हो जाता है। इसे गीता में कहा गया है- 'सदा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता'। यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ भी रजो गुण स्थगित रहता है, समाप्त नहीं होता है क्योंकि गुणत्रय के अभाव चित्त की स्थिति ही असंभव है।
- निरूद्ध- चित्त की उच्च अवस्था या भूमि को योगशास्त्र में निरूद्ध कहा गया है। इस भूमि में चित्त की सभी वृत्तियाँ पूर्णत स्थगित हो जाती है, लेकिन उन वृत्तियों के संस्कार अवश्य अवशिष्ट रहते हैं। संस्कारयुक्त चित्त की यह निरूद्ध अवस्था ही निर्बीज समाधि है।

चित्त की इन पाँच भूमियों में प्रथम तीन भूमियों में कहीं-कहीं वृत्ति निरूद्ध होती है, किन्तु योग साधना में उनका योगदान विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। अन्तिम दो भूमियाँ योग प्राप्ति के लिए वस्तुतः महत्वपूर्ण हैं। एकाग्र भूमि की प्राप्ति होने पर साधक परमार्थ विषय की ओर प्रेरित होता है और उसके अविद्या, काम, कर्मादि क्लेश बन्धनों का टूटना आरम्भ हो जाता है। निरूद्ध अवस्था की प्राप्ति होने पर साधक योग अथवा समाधि में स्थिर होकर निरूद्ध को प्राप्त करता है जो कैवल्य की निकटतम सीढ़ी है।

योग में, चित्त की अवस्थाओं में जिनमें वृत्तियाँ निरूद्ध नहीं होती है, व्युत्थान-अवस्था कहा जाता है। व्युत्थान अवस्था में पुरूष एवं चित्त-वृत्तियों का अज्ञानजन्य सम्पर्क सदैव बना रहता है जिसके कारण पुरूष अपने वास्तविक रूप में स्थित नहीं हो पाता। पंचवृत्तियाँ व्युत्थान चित्त की वृत्तियाँ हैं। पाँच वृत्तियों को पुनः पुरूष कल्याण की दृष्टि से क्लिवट एवं अक्लिवट दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। क्लिष्ट वृत्तियाँ चित्त की वो वृत्तियाँ है जो विषयों से संबद्ध होकर धर्म और अधर्म की उत्पत्ति करती है और जीव के कर्माशय का विस्तार करती है। इन वृत्तियों से जीवन के क्लेश की उत्पत्ति होती है। अतः इन्हें किलष्ट वृत्ति की संज्ञा दी गयी। इसके विपरीत चित्त की वे वृत्तियाँ, जिनमें रजस् एवं तमस् के दब जाने से प्रशान्त प्रवाह होता रहता है, अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियों के उदय से जीवन को ख्याति अर्थात् प्रज्ञा की प्राप्ति होती है।

व्युत्थान अवस्था में उत्पन्न होने वाली समस्त वृत्तियाँ जीव को सुख, दुःख एवं मोह का अनुभव कराती हुई उसके बन्धन में कारण होती है। इन वृत्तियों के द्वारा जीवन सांसारिक विषयों की ओर प्रेरित होकर राग, द्वेष आदि का अनुभव करते हुए संसार चक्र में पड़ा रहता है। लेकिन जिस समय ये ही प्रवृत्तियाँ अक्लिष्टरूपिणी होती है उस समय वे जीवन को कल्याण की ओर प्रेरित करती हैं।

निरूद्धावस्था, व्युत्थान अवस्था के पश्चात् आती है। योगशास्त्र में निरूद्ध की दो अवस्थाएँ बतायी गयी हैंः 1. संप्रज्ञात और 2. असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में साधक का चित्त किसी एक वस्तु पर इस प्रकार एकाग्र हो जाता है कि उसकी अन्य सभी वृत्तियों की शक्ति क्षीण होकर उस वस्तुविषयक वृत्ति को ही दृढ़ करती है। इस अवस्था में साधक का चित्त निर्वात दीप-शिखा के समान एक ही भाव में प्रवाहित होते हुए रजोगुणजन्य सभी प्रभावों का त्याग करके सत्त्व से परिपूर्ण होता है। इस अवस्था में भी कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है, इसलिए इसे सबीज-समाधि अथवा धर्ममेघ-समाधि भी कहते हैं। सत्त्वगुणजन्य प्रज्ञा का उदय होता है और जीव के समस्त कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं। सम्यक् रूप से प्रज्ञा का आविर्भाव होने के कारण इस अवस्था को संप्रज्ञात कहा गया है। समाधि की यह अवस्था निरूद्ध की निकटतम अवस्था है। संप्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं, वितर्का, विचारा, आनन्दा एवं अस्मिता, जो इसकी चार अवस्थाएं हैं जो क्रमशः प्राप्त होती हैं- 'वितर्क

विचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः'[5]। साधक की प्रज्ञा जब किसी स्थूल आलम्बन को स्वरूप का साक्षात्कार विषय बनाकर उसकी ओर प्रवृत्त होती है तब समाधि की इस अवस्था को वितर्कानुगत समाधि कहते हैं। निरन्तर अभ्यास द्वारा साधक सूक्ष्म विषयों की ओर अग्रसर होता है जैसे पंचतन्मात्रादि, अहंकार, महदादि तथा इन्हें आलम्बन का विषय बनाता है, साधक के चित्त की यह अवस्था विचारानुगत समाधि कहलाती है। सूक्ष्म विषयों की ओर प्रवृत्त एकाग्रचित्त में पर्याप्त सत्त्व से एक विशेष आनन्द की उत्पत्ति होती है और इस अवस्था को आनन्दानुगत समाधि कहा जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की चतुर्थ एवं सर्वोच्च अवस्था अस्मितानुगत है। इस अवस्था में केवल 'मैं हूँ' का ज्ञान साधक के चित्त का आलम्बन होता है। संप्रज्ञात समाधि की आलम्बनयुक्त अवस्थाओं को पार करके योगी निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्य के फलस्वरूप समाधि की आलम्बन रहित असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त कर लेता है। चित्त की इस निरावलम्बन अवस्था में वृत्तियाँ सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। समाधि की इस अवस्था को निर्बीज समाधि कहते हैं क्योंकि यह चित्त की आलम्बनहीन एवं क्रियाहीन अवस्था है। यही पुरुष का प्रकृति के बन्धन से मोक्ष है।

प्रत्येक प्राणी की अर्जित शक्तियाँ भिन्न है। प्रत्येक का अपना-अपना व्यक्तित्व, साधना क्षेत्र एवं मापदण्ड भिन्न होता है। योगशास्त्र में साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है- उत्तम, मध्यम और अधम। इन्हें क्रमशः योगरूढ़, युजान तथा आरूरूक्ष भी कहा जाता है। उत्तम साधक को पूर्वजन्म में ही योग की सर्वोत्कृष्टता का बोध हो गया रहता है और मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा से उसकी आधी योग साधना पूर्वजन्म में ही पूर्ण हो चुकी होती है। बहिरं? योग सिद्ध उत्तम साधक अदृष्ट के माध्यम से वर्तमान जीवन में अग्रिम साधना प्रारम्भ करते हैं। महर्षि पतंजलि ने उत्तम साधकों के चित्तवृत्ति निरोध के लिए अभ्यास-वैराग्य का उपाय बतलाया है। भगवद्गीता में भी कहा गया है- 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। योग सूत्र में कहा गया है- यत्नोभ्यासः'।[6] अर्थात् यत्न विशेष को अभ्यास कहते हैं। यह विशेष यल तप, ब्रह्मचर्य, विद्या एवं श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक निरन्तर अनुष्ठान है। अभ्यास से साधक को दृढ़भूमि प्राप्त होती है जिससे वह व्युत्थान अवस्था की क्लिष्ट वृत्तियों से सहसा प्रभावित नहीं होता। पुनः जब साधक लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों में दोष देखने लगता है, वैराग्य की स्थिति होती है। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'।[7] अर्थात् दोनों प्रकार की वृत्तियों के अभ्यास एवं वैराग्य से निरूद्ध किया जाता है।

मध्यम अधिकारियों या युजान के चित्तवृत्ति को निरूद्ध करने का मार्ग क्रिया-योग से आरम्भ होता है। युजान क्रिया-योग की साधना द्वारा चित्त को एकाग्र बनाते हैं। क्रिया-योग तीन क्रियाओं की समष्टि का नाम है। 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'[8] अर्थात् ये तीन क्रियाएं हैं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को अभ्यास द्वारा वश में करना तप है। मोक्ष का ज्ञान कराने वाले शास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय है तथा ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ भगवान की भक्ति है। क्रिया-योग के दो प्रयोजन हैंः पहला क्रिया-योग चित्त को समाधि की ओर प्रेरित करता है एवं द्वितीय वह उदार अवस्था के क्लेशों की शक्ति को क्षीण करता है। इस प्रकार क्रिया-योग पर विजय पाकर युजान, योगरूढ़ साधक की श्रेणी में आ जाता है और तत्पश्चात् अभ्यास-वैराग्य की साधना प्रारम्भ करता है।

व्युत्थान-दशा में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश इन पंचक्लेशों से परिपूर्ण चित्त का समाधान केवल अभ्यास एवं वैराग्य से असंभव है। योगशास्त्र इन क्लेशों से चित्त की परिशुद्धि के लिए तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान इन प्रकार के क्रियायोगों का आदेश उल्लेख किया गया है। पुनः आठ साधनों का भी वर्णन किया गया है। इनका अभ्यास चित्त के समाहित होने में एक प्रकार से आवश्यक समझा जाता है। योग के इन आठ साधनों को अष्टांग योग कहा जाता है। इनमें यम,

नियम, आसन, प्राणयाम और प्रत्याहार में पाँच बहिरंग साधन है। इसके अनन्तर तीन अन्तरंग साधन है जो ध्यान, धारणा और समाधि है।

- यमः काचिक, वाचिक तथा मानसिक संयम को यम कहते हैं। यम पाँच है जिनका पालन आवश्यक है। ये निम्नलिखित हैं - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
- नियमः यम की साधना के पश्चात् नियम का क्रम आता है।। नियम भी पाँच हैं- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान।
- आसनः शरीर को सुख एवं चित्त को स्थिरता प्रदान करने वाले बैठने के तरीके को आसन कहा जाता है। चैरासी आसन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।
- प्राणायामः स्थिर होकर श्वास और प्रश्वास की गति को नियमतः रोकना प्राणायाम है। कुम्भक, रेचक और पूरक ये तीन प्राणायाम के प्रकार है।
- प्रत्याहारः इन्द्रियों को विषयों से हटाना प्रत्याहार है।
- धारणाः किसी स्थान पर चित्त को स्थिर करने को धारणा कहते हैं। योग में धारणा के लिए कुछ स्थान चिन्हित किये गये हैं जैसे-नाभिचक्र, नासिका, जिह्वा के अग्रभाग, हृदय पुण्डरीक आदि।
- ध्यानः किसी ध्येय वस्तु का आलम्बन करके धारणा करते हुए जब चित्त की वृत्तियाँ एक धारा में प्रवाहित होने लगती है तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान में एक काल में एक ही ज्ञान का प्रवाह होता है, वह अन्य प्रकार के ज्ञान से मिश्रित नहीं होता है। ध्यान का लक्षण एकाग्रता है।
- समाधिः ध्यान के निरन्तर अभ्यास से चित्त ध्येय वस्तु के ही आकार को ग्रहण कर लेता है। चित्त की यह अवस्था समाधि कहलाती है।

अष्टांग-योग की साधना पद्धति का आधार संयम है। यह सिद्धान्त शरीर-मन-इन्द्रिय कर्म के संयम पर बल देता है। संयम को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करके यह सिद्धान्त नैतिक मूल्य की स्थापना करता है। योग दर्शन की दृष्टि में मनुष्य का चित्त एक चक्की के पाट के समान है यदि हम उसमें पीसने के लिए कुछ नहीं डालेंगे तो वह स्वयं को पीस डालेगा। डॉ0 राधाकृष्णन् के अनुसार 'जब हम चित्त को उसके विषयों से रहित कर देते हैं तो उसकी चेष्टा निरूद्ध होकर अकर्मण्यता की स्थिति में पहुँच जाती है। इसमें चित्त तो निराश्रय हो जाता है किन्तु आत्मा स्वस्थ रहती है। यह एक ऐसी रहस्यमय अवस्था है जो प्रगाढ़ एकाग्रता के फलस्वरूप प्राप्त होती है।[9] फलस्वरूप साधक को मोक्ष, जिसे योग दर्शन में कैवल्य कहा जाता है, की प्राप्ति होती है। कैवल्य जीव की भविष्य में जीवन को प्रेरित करने वाली शक्ति है, जिसे प्रो0 संगम लाल पाण्डेय 'जीव का उज्जीवन' कहते हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. योगसूत्र 1, 2।
2. योग 1, 1 पर वाचस्पति मिश्र का भाष्य।
3. योग भाष्य 1/48।
4. योगसूत्र 1/10।
5. योगसूत्र 1/17।
6. योगसूत्र 1/13।
7. योगसूत्र 1/12।
8. योगसूत्र 2/1।
9. डॉ0 राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृष्ठ सं0 357

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं धर्म

डॉ0 अजय कुमार
दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

क्या पशुओं एवं पक्षियों के समान मनुष्य भी एक प्राणी है? यद्यपि मनुष्य भी प्राणी है, परन्तु उसे एक विशिष्टता मिली है। पशुओं के समस्तगुण मनुष्यों में भी पाये जाते हैं। मनुष्य भी पशुओं एवं प्राणि जाति (Genus) की एक उपजाति (Species) है। पशुओं एवं पक्षियों की प्रेरणा और सम्बन्ध प्राकृतिक विवशता के कारण प्रतीत होते हैं। पशुओं पर किये गये अनेक प्रयोगों से सिद्ध होता है कि पशु मनोविज्ञान को समझकर उनमें विविध कौशल पैदा किया जा सकता है। हाथी, घोड़े, बन्दर, कुत्ते, तोते, मैना आदि पशु पक्षियों के क्रियाकलाप एवं उनके द्वारा अर्जित कौशल द्रष्टव्य है। उनमें मनुष्यों की तरह अनेक लक्षण देखे जा सकते है, परन्तु उनके व्यवहार सहज प्रवृत्तियों के द्वारा संचालित होते है।[1] मनुष्य एक विचारशील, विवेकवान्, संकल्प स्वतन्त्र्य से युक्त एवं स्वतन्त्र प्राणी है। पशुओं में विचार एवं विवेक का अभाव है। पशुओं का जीवन सहज प्रवृत्तियों से संचालित एवं भोगमय जीवन है। इसके विपरीत, मानव समाज में एक कर्म-व्यवस्था, कार्य योजना, अनुसन्धान, उचित एवं अनुचित का विवेक देखा जाता है। उचित एवं अनुचित का विवेक ही धर्म-बोध है। मनुष्यों में पशुओं के समान ही सहज प्रवृत्तियाँ पायी जाती है, परन्तु विवेक एवं विचार से युक्त मानव उनपर एक सीमा में एक मर्यादा के अन्तर्गत उन पर नियन्त्रण करने में समर्थ होता है। यही उसकी पशुओं से पृथक पहचान है। **सहज प्रवृत्तियों का विवेकपूर्ण नियमन एवं नियन्त्रण मनुष्य की विशिष्टता है। विवेक, स्वातन्त्र्य ,कर्तृत्व एवं धर्म-बोध के द्वारा मानव मूल्यानुसन्धान एवं संस्कृतियों का सृजन करता है।**

मानव सामाजिक यथार्थ और नैतिक आदर्श में समन्वय करके सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन करता है। अपने जीवन को धर्मपरायण एवं आदर्शमय बनाने के लिए भी जीवन'-निर्वाह के सामाजिक यथार्थ (परिस्थिति) के अन्तर्गत ही कर्म करना पड़ता है। यथार्थ जीवन में उपयोगी व्यावहारिक सफलता के सूत्रों को ही परम्परा में नीति कहा गया है। धर्म का बुद्धिग्राह्य स्वरूप ही सनातन भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व है।

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है धारण करना। किसे धारण करना, कैसे धारण करना? इसका उत्तर हैः **'धारणाद धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।'** एवं यह भी कहा गया है- **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'।** समाज, राष्ट्र, राज्य एवं सम्पूर्ण विश्व का आधार ही धर्म है। सब कुछ धर्म पर ही टिका हुआ है। सनातन काल से यह मान्यता प्रचलित रही है कि युगों के अनुक्रम में शनैः शनैः धर्म की हानि, पतन एवं ह्रास होता रहा है। प्रत्येक युग का भी अपना एक विशिष्ट धर्म रहा है।[2]

सत्ययुग (कृतयुग) तपः प्रधान, त्रेतायुग, ज्ञान प्रधान, द्वापर यज्ञ प्रधान और कलियुग दान प्रधान हैं। कलियुग में धर्म का केवल एक चौथाई भाग, अर्थात् दान ही अवशेष बचा भाग है।, अर्थात तप, आध्यात्मिक ज्ञान और यज्ञ (लोककल्याणकारी कर्म) नष्ट हो चुके है।

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के अन्त में हो गया। हिस्ट्री आफ दि धर्मशास्त्र के लेखक, पी.वी.काणे ने इसकी तिथि ई.पू. 3102 निर्धारित की है। किन्तु कुछ विद्वानों एवं शोधकर्त्ताओं ने इस तिथि की प्रामाणिकता को संदिग्ध माना है। महाभारत के युद्ध का काल-निर्धारण एवं कलियुग के आविर्भव की वास्तविकता के विवाद में न उलझकर, हम

इस इतिहासकारों के चिन्तन एवं मनन पर छोड़ देते हैं। किन्तु यह अवश्य है कि जो आदर्श या मूल्य वैदिक काल में जीवन के प्रेरक सिद्धान्त थे, व्यावहारिक जीवन में जिनका पालन किया जाता रहा है, क्रमशः वेदोत्तर काल में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से उनका ह्रास होता चला गया। लोगों में सतातन धर्म के प्रति, मूल्यों के प्रति, निष्ठा एवं आस्था में कमी आयी। इस ह्रास के अनेक कारण हो सकते है, जिनमें कर्मकाण्ड की कट्टरता, जटिलता, विदेशी आक्रमण, पेशेवर सैनिकों की शक्ति और नागरिक सभ्यता पर आधारित सामाज्य आदि।[3]

धर्म का ह्रास किसी भी राष्ट्र के पतन का घोतक है। यहाँ तक राजा भी धर्म से ऊपर नहीं है। राजा और राज्य दोनों धर्म से बँधे हैं। महाभारत में भीष्म के द्वारा यह कहा गया है कि राजा काल का कारण है, (राजा कालस्य कारणम्)।प्रश्न उठता है कि क्या राजा सर्वोपरि है? क्या राज्य या कार्यपालिका सर्वोपरि है? राजा, राज्यव्यवस्था और कार्यपालिका बहुत प्रभावशील होते हैं, यह सत्य है। किन्तु वे सर्वोपरि नहीं है। राजा का यह दायित्व है कि लोगों में जनता में अथवा समाज में धर्माचरण बना रहे। धर्म ही सर्वोपरि है। धर्म ही सर्वप्रभुता सम्पन्न है, न कि राजा अथवा राज्य अथवा कार्यपालिका। भारतीय संस्कृति को इसीकारण धर्मपरायण कहा जाता है। यहाँ तक कि धर्म के विरूद्ध कार्य करने वाला राजा भी दण्डनीय है। अत्याचारी राजा बेन को धर्म-विरूद्ध आचरण करने के कारण राजसत्ता से हटाकर पृथु को राजसिंहासन पर सत्तासीन करने का का दृष्टान्त मिलता है। ऋषियों, मुनियों एवं ब्राह्मणों के इस कार्य को किसी शास्त्र में अनुचित नहीं कहा गया। यहाँ यह स्पष्ट है कि धर्म की प्रभुता स्वीकार करने पर ही ऋषियों को अपने राजा को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त हुआ था।यदि कोई राजा या कार्यपालिका अपने राजधर्म का पालन न करता हो उसे पदच्युत या सत्ताच्युत करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अथवा संस्था, अपने धर्म का पालन करते है, धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म स्वयं उसकी रक्षा करता हैं। कहा गया है **'धर्मो रक्षति रक्षतः'**। महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि भगवान विष्णु धर्माध्यक्ष हैं। अतः अपनी मर्यादा में रहते हुए जो स्वधर्म का पालन करता है, धर्म का अध्यक्ष ईश्वर (विष्णु) स्वयं उसकी रक्षा करता है।

'धर्म' शब्द का क्या अर्थ है? यह प्रश्न अत्यन्त गूढ़ है। इस शब्द के अनुरूप हूबहू इसे अनूदित करने वाला किसी भाषा में कोई शब्द नहीं है। भारतीय संस्कृति जिस धर्म से परिभाषित होती है, वह विवेक (wisdom) का एक विशिष्ट इतिहास है।[4] इसके अन्तर्गत जाति, पाँति, छुआछूत, रूढ़ियाँ, कर्मकाण्डों जटिलताएं, पूजा, नमाज, प्रार्थनाओं में निहित रूढ़ियाँ, खाना-पान आदि का कोई स्थान वहीं हो सकता है। यह कोई मजहब अथवा रिलीजन (Religion) नहीं है। साधारण अर्थ में धर्म से नैतिक मूल्यों और उसकी चेतना का बोध होता है। कुछ विचारकों ने धर्म की तुलना हेगल के दर्शन में **'जित्लिश्काइत'** से की है। हेगल के अनुसार विशुद्ध नैतिकता की विषयिनिष्ठता (Subjectivity) और शुद्ध कानून की विषयनिष्ठता (Objectivity) दोनों ही सापेक्ष हैं। नैतिकता और विधि का यथार्थ स्वरूप संस्थागतशील में ही उपलब्ध होता है।

हेगल ने सामाजिक संस्थाओं के द्वारा परिभाषित आचरण और व्यवहार की कार्य योजना अथवा व्यवस्था को 'जित्लिश्काइत' कहा है। इसके अन्तर्गत आदर्श मूल्यव्यवस्था और सामाजिक यथार्थ, नैतिकता, सामाजिकता, आत्म-बोध, आचार-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों, (परिवार, विवाह, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, राज्य व्यवस्था एवं जनता जनार्दन आदि के परस्पर सम्बन्धों के विधान एवं दायित्व बोध) का समन्वय हो जाता है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में प्रचलित धर्म के अन्तर्गत नैतिकता और विधि (Morality and Law), सामाजिक सम्बन्धों की मर्यादाएं, परस्पर

व्यवहार, कर्त्तव्य एवं अधिकार, अनेक प्रकार के सद्गुण (Vertue) (जैसे-धैर्य (धृति) क्षमाशील होना, इन्द्रिय निग्रह, विवेक (धी) विद्या, सत्य, क्रोधहीनता (अक्रोधो) इत्यादि अन्तर्भूत हो जाते हैं। धर्म ही समस्त मूल्यों, सद्गुणों, नैतिकता एवं विधि के लोक कल्याणकारी स्वरूप का मानदण्ड है। इस दृष्टि से धर्म पुरूषार्थ केवल एक मूल्य ही नहीं है, बल्कि धर्म से अनुप्राणित होने पर ही कोई चीज, मूल्यवान एवं लोककल्याणी होती है। धन (अर्थ) के पुरूषार्थ एवं मूल्यवान होने के लिए उसका धर्मानुप्राणित एवं धर्म से अनुशासित एवं नियन्त्रित होना अनिवार्य है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म अपने यथार्थ स्वरूप में समस्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन का चेतना सूत्र है। धर्म ही वह धुरी है जिसके द्वारा समस्त लोकजीवन संचालित होता है। इसीलिए कहा गया है- 'धर्मो धारते प्रजाः'। इस दृष्टि से धर्म मानव निर्मित नहीं, प्राकृत नहीं, बल्कि एक विराट् पुरूष या एक दिव्य सत्ता का नियम है।

भारतीय संस्कृति में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त मानव जीवन धर्मानुप्राणित संस्कारों से युक्त रहा है। इसका प्रभाव मानव-जीवन के साथ-साथ प्राकृतिक जगत की व्यवस्था पर भी रहा है वैदिक परम्परा में 'ऋत' का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। देवों को **'ऋतस्य गोपा'**, अर्थात् ऋत का संरक्षक कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ऋत, अर्थात् नैतिक व्यवस्था (Moral Order) से संचालित है। व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन के साथ-साथ समस्त लौकिक जीवन (समाज, शिक्षा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, पर्यावरण आदि में एक नैतिक और शाश्वत दैवी नियम व्याप्त है। ऋत (नैतिक नियम/व्यवस्था) का आचरण और सत्य का पालन एक दूसरे से अवियोज्य हैं। आर्य संस्कृति में सत्य का पालन करना सर्वोत्कृष्ट सद्गुण माना गया है। इसका प्रभाव भगवान सत्यनारायण की कथा से लेकर 'सत्यमेव जयते' तक प्रचलित रहा है। इसलिए सत्य को ही परम धर्म, अद्वितीय धर्म कहा गया है- 'धरम न दूसर सत्य समाना' (तुलसीदास)।

एकात्मवादी आध्यात्मिक परम्परा के अन्तर्गत धर्म के दो पक्ष हैंः प्रथम प्रवृत्तिमूलक धर्म एवं द्वितीय निवृत्तिमूलक धर्म। इनमें से प्रथम धर्म कर्मप्रधान है, परन्तु कर्म स्वेच्छाचारी नहीं, बल्कि नियमानुशासित है। निवृत्तिमूलक धर्म त्यागपरायण एवं तत्त्वज्ञान पर आधारित है। इनमें प्रथम का सम्बन्ध लौकिक जीवन, अर्थात् समाज राष्ट्र राज्य, संस्कृति एवं संस्कारों से है। धर्म का द्वितीय रूप लौकिक जीवन एवं पारमार्थिक जीवन के मध्य सेतु का कार्य करता है। यह प्रवृत्ति में निवृत्ति, कर्म में त्याग का जीवन है, श्रेय का मार्ग है। धर्म के इन दोनों पक्षों को समाहित (सम्मिलित) करते हुए महर्षि कणाद ने इसे परिभाषित किया है।[5]

पं. दीनदयाल जी के एकात्ममानववाद में धर्म के इन दोनों रूपों को सम्मिलित किया गया है। इसी कारण उन्होंने अपने आदर्श के रूप में एक ओर शंकराचार्य जैसे संन्यासी दार्शनिक को स्वीकार किया तो दूसरी ओर सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य को। चाणक्य जैसे पर्णकुटी में रहने वाले ब्राह्मण ने बुद्धि और त्याग के बल से अत्याचारी महापद्मानन्द के विशाल साम्राज्य को नष्ट कर दिया और चन्द्र गुप्त को मगध का राजा बनाया। उसने विदेशी आक्रान्ताओं से भारत को बचाया।

इसी प्रकार शंकराचार्य जैसे परमज्ञानी संन्यासी एवं दार्शनिक ने समस्त रूढ़िवादी मान्यताओं को तोड़ करके अपनी माँ की अन्तेष्टि में भाग लिया। रूढ़ि परम्परानुसार संन्यासी को अग्नि का स्पर्श नहीं कराना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने राष्ट्र की रक्षा के लिए वर्णव्यवस्था एवं जातिव्यवस्था की रूढ़ि को तोड़कर के गैर क्षत्रिय चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक किया। जहाँ चन्द्रगुप्त अभ्युदय का प्रतीक है वहाँ शंकराचार्य निःश्रेयस का प्रतीक है। एकात्ममानव दर्शन में धर्म के इन दोनों रूपों का समन्वय सहभाव से हो जाता है। **सतां हि सन्देह पदेसु वस्तुसु अन्तःकरणप्रवृत्तयः।**[6]

धर्म के लिए दो प्रमाण माने जा सकते हैंः प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः (महाकवि कालिदास) एवं महापुरूषों के चरित्र (महाजनो येन गतः स पन्थः) धर्म का मूलतत्व विवेक बुद्धि में निगूढ़ है। उसे अपनी अन्तरात्मा में डूबकर, आध्यात्मिक स्तर पर ही पहचाना जा सकता है- 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' भारतीय ऋषियों ने विवेक बुद्धि या प्रज्ञा से उसका साक्षात्कार करके उस तत्त्व (धर्म) की विश्वव्यापी नियामकता का उपदेश दिया। यह विवेक शक्ति कोई वाह्यारोपित तत्त्व नहीं है। यह हमारी बुद्धि में निगूढ़ है। आवश्यकता है, उसे जाग्रत करने की।

धर्म के तात्त्विक बोध की परम्परा में बहुदेववाद और एकेश्वरवाद में कोई मौलिक विरोध नहीं है। ऋत और देवों की शक्ति का गहन सम्बन्ध है। देवताओं को इसीलिए 'ऋतस्यगोपा' और 'ऋत व्रत' कहा जाता है।[7] विश्व स्वयं दैवी सृष्टि है। सनातन वैदिक परम्परा की आध्यात्मिक दृष्टि विश्व की पूर्णता, गतिशीलता और श्रेष्ठता (वरेण्यता) का परिचय देती है। नैतिक, धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्य एक व्यापक संस्कार-व्यवस्था के घटक के रूप में मान्य रहे हैं। ये संस्कार मानव के लिए देवानुशासन के अनुसरण और उसके लौकिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय तथा उन्नयन के हेतु रहे हैं। माता-पिता, गुरू एवं बन्धु-वान्धवों के समान ही मानव जीवन के रक्षक, पोषक और मार्ग-दर्शक रहे हैं। अनेक देवी-देवों का होना ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत उसके अनन्त सद्गुणों शक्तियों आदि के प्रतीक है। राजसत्ता के समान वे ऋत रूपी नैतिक व्यवस्था के रक्षक और पोषक सिद्धान्त स्वरूप हैं। उसी व्यवस्था का पालन मनुष्य के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का मार्ग है।

परवर्ती काल में वैदिक दृष्टि का बहुदेववाद तत्त्वविचार की दृष्टि से **एकमेवाद्वितीय ब्रह्म** के रूप में स्थापित हो जाता है। ब्रह्म न केवल जगत का सृष्टा है, बल्कि उसमें व्याप्त है।[8] उपनिषदों में ब्रह्म के अन्तर्गत समस्त देवताओं और विविधताओं को समाहित किया गया है। एक मात्र परमात्मा या ब्रह्म से ही समस्त प्राणी (अनेकाताएं) उत्पन्न होती हैं, उससे ही समस्त भूत जीवित हैं, पोषित हैं और अन्त में उसमें ही वे विलीन हो जाते हैं, प्रविष्ट कर जाते है।[9] वादरायण कृत ब्रह्मसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' के अन्तर्गत ब्रह्म का तटस्थलक्षण, अर्थात् सृष्टि के कर्तृत्व का निरूपण किया गया है। ब्रह्म (ईश्वर) से सृजित जगत उसी 'अक्षर' पर ब्रह्म के द्वारा अनुशासित एवं नियन्त्रित होता है। आत्मा के स्वरूप में वही ब्रह्म सब का प्रिय है।[10] सत् रूप में ब्रह्म परम कारण एवं सर्वव्यापक है। चित् के रूप में वह आत्मा है। (अयं आत्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मस्मि सोऽहंमस्मि)। यह सत् और चित् रूप ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। इसे ही सच्चिदानन्द कहा गया है। समस्त प्राणियों का आधार आनन्दवाद है। आनन्दाहयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।।[11]

इस प्रकार अपने मूलस्वरूप एवं सहजरूप में मानव चेतना एक अखण्ड और अनन्त सत्य का विधान करती है। अनेकता केवल सतह और परिधि पर है, परन्तु उसका नियामक केन्द्र एक अखण्ड, अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

इससे स्पष्ट है वेदोपनिषदों से लेकर गीता एवं ब्रह्मसूत्र में निहित आध्यात्मिक दृष्टि विश्व की अनेकताओं एवं विविधताओं में एक परम सत् और उस परमात्मा में अनन्त विश्व का भेद खोजने की दृष्टि है। अनेकता प्राकृतिक है, एकात्मकता आध्यात्मिक है। एकात्मकमानववाद के अन्तर्गत आध्यात्म और भौतिकता में विरोध नहीं है। यह एक समग्रदृष्टि है। यह लौकिक जीवन की समस्त अपूर्णताओं, एवं विविधताओं में एक सम्पूर्णता को प्रतिबिम्बित करने की सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टि है।

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. आहार निद्रा मय मैथुनम् च सामाचमेतत पशुमिः नराणायम्
2. मनुस्मृति (1 ; 69 81-87,142-44) एवं महाभारत (शान्तिपर्व) के साथ साथ पुराणों एवं रामचरितमानस में चार युगों एवं कलियुग का वर्णन किया गया है।
3. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय भारतीय परम्परा के मूलस्वर पृ 65-66
4. वही, पृ0 66-67
5. '' यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः'' वैशेषिक सूत्र
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालीदास
7. भारतीय परम्परा के मूल स्वर पृ0 40
8. सर्वं रवल्विदं ब्रह्म' (छा.उ. 3.14)
9. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, ये जातानि जीवन्ति यंप्रयन्त्यभिविशन्ति (तैत्ति. उ.इ.)
10. आत्मस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (वृहदारण्य. 3.7)
11. पूर्णमदः पूर्णमिदं। (बृहदारण्यक)

भारतीय राजदर्शन में कौटिल्य का अवदान

डॉ0 सुनील कुमार शुक्ल

जनरल फेलो0 ICPR, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय चिन्तन की परम्परा में कौटिल्य का विशेष महत्व रहा है। उनके चिन्तन का मूल स्रोत हमारे लिए उनकी प्रसिद्ध कृति अर्थशास्त्र है। कौटिल्य अपने समय के विद्वानों में श्रेष्ठतम विद्वान थे। उनकी कालजयी रचना 'अर्थशास्त्र' तात्कालिक समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को प्रकट करती है। उनकी कृति अर्थशास्त्र में वर्णित प्रसंग तथा विचार आज भी मीमांसा तथा शोध के विषय बने हुए हैं। कौटिल्य के विषय में J.F Fleep महोदय का कहना है कि "Kautilya was not only a King maker but also the greatest Indian Exponent of the art of government. The duties of the Kings, Ministers and officials and methods diplomacy[1].

कौटिल्य को विष्णुगुप्त एवं चाणक्य के नाम से जाना जाता है। चाणक्य उन्हें इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे चणक के पुत्र थे। उनका घर का नाम विष्णुगुप्त था। कौटिल्य के जीवन चरित्र के विषय में कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने कौटिल्य का जन्म लगभग 400 ई0पू0 माना है। विद्वानों का अभिमत है कि कौटिल्य का जन्म भारत की प्राचीन ऐतिहासिक नगरी तक्षशिला में एक गरीब ब्राह्मण के घर हुआ था। उन्हें कौटिल्य कहे जाने का कारण 'कुटिल' नामक ब्राह्मण वंश में जन्म लेना बताया जाता है। कौटिल्य ने मगध के नालन्दा विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त किया था। इसी समय एक घटना घटित हुई, जिससे तत्कालीन मगध राज्य का शासक घनानंद का चाणक्य शत्रु बन गया। घनानंद का अत्याचार मगध साम्राज्य पर अपनी चरम अवस्था पर था। एक दिन घनानंद ने श्राद्ध के लिए अपने मित्र शकटार के द्वारा कुछ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। शकटार राजा से पहले ही रूष्ट था। उसने चाणक्य के क्रोधी और हठीले व्यवहार के बारे में सुन रखा था। अतः उसने श्राद्ध पर कौटिल्य को आमंत्रित किया। जब राजा ब्राह्मणों के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ तो कुरुप और भद्दे चाणक्य को देखकर उसने कहा, इस चाण्डाल को यहाँ क्यों लाये? चाणक्य इस अपमान को सहन नहीं कर सका और उसने अपनी शिखा खोलते हुए यह प्रतिज्ञा किया कि जब तक मैं नन्दवंश का नाश नहीं कर दूँगा तब तक अपनी शिखा नहीं बाँधूगा।2 अन्ततः उसने नन्दवंश का विनाश कर चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाकर मौर्य साम्राज्य की नींव रखी। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को अपना महामंत्री बनाया। इस समय उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' की रचना की। कौटिल्य ने महामंत्री होते हुए भी झोपड़ी में सामान्य लोगों की तरह जीवन व्यतीत किया। उन्होंने अत्यन्त ही परिश्रमी, ज्ञानी, नीति-निपुण, त्यागपूर्ण, ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत किया। वे विदेशी आक्रमण से टूटे-फूटे और बिखरे भारत को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य किया। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों यथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक इत्यादि पर गहनतापूर्वक विचार किया है। यद्यपि कौटिल्य ने मानव जीवन से सम्बन्धित सभी पक्षों पर अपना विचार प्रस्तुत किया है, परन्तु वे राजदर्शन पर अपना विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जिसका वैश्विक स्तर पर विशेष महत्व है। हमें उनके राजदर्शन के क्षेत्र में दिये गए योगदान को स्पष्ट करने के पूर्व उनके विचारों का आधार स्तम्भ उनके ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' के निहितार्थ एवं उद्देश्य को समझना आवश्यक होगा। आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र

के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए अर्थशास्त्र के अधिकरण 15 अध्याय 1 में लिखते हैं कि-

मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवतीभूमिरित्यर्थः,
तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायशास्त्रमर्थशास्त्रमिति।।3

अर्थात् उनके अनुसार यहाँ अर्थ शब्द के दो निहितार्थ हैं- मनुष्यों की आजीविका और वह भूमि जिस पर मनुष्य निवास करते हैं। उस भूमि की प्राप्ति एवं रक्षा के उपायों का जिसमें वर्णन रहता है उसे अर्थशास्त्र कहते हैं। अब यदि कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाय तो इस सन्दर्भ में उनका स्पष्ट अभिमत है कि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का सारांश मानव के कल्याण के लिए दिए गए विषयों को तार्किक एवं व्यावहारिक रूप से प्रस्तुत करना ही अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य है।

आचार्य कौटिल्य के चिन्तन का मूल्यांकन यदि भारतीय राजदर्शन में उनके द्वारा दिये गए अवदान के रूप में किया जाय, तो हम स्पष्टतः कह सकते हैं कि जिस प्रकार से पश्चिम के राजदर्शन में अरस्तू के चिन्तन का महत्व है उसी प्रकार भारतीय राजदर्शन के चिन्तन की परम्परा में कौटिल्य का। इस सन्दर्भ में यहाँ प्रसिद्ध विचारक सालेटोर के कथन को व्यक्त करना समीचीन होगा, जैसा कि वे कहते हैं कि ''प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।''[4]

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट विचार है कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य की संकल्पना के पूर्व समाज में मत्स्य न्याय प्रचलित था, जिसमें सबल-निर्बल का विनाश कर देता था। इस व्यवस्था से तंग आकर लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया और उसे कर देने का भी वचन दिया बदले में राजा से यह अपेक्षा की गयी कि वह प्रजा के योग-क्षेम की व्यवस्था करे।

कौटिल्य ने राज्य की स्थिति को स्पष्ट करते हुए राज्य के सावयवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे राज्य के सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए 'अर्थशास्त्र' में लिखते हैं कि-ये सात तत्व राज्य की सात प्रकृतियाँ है- ''स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोषदण्ड मित्राणि प्रकृतयः''।[5] अर्थात् स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये राज्य की सात प्रकृति है। कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त में पहला स्थान स्वामी या राजा का आता है। प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में राज्य-संस्था के लिए राजा अत्यधिक महत्वपूर्ण था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में एक सफल राजा के लिए अपेक्षित गुणों का विस्तार से उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार राजा को उच्चकुल का होना चाहिए, उसमें दैवी बुद्धि एवं दैवी शक्ति हो, वृद्धजनों की बात सुनने वाला हो, धार्मिक और सत्यभाषी हो। कौटिल्य का स्पष्ट विचार है कि वही राजा श्रेष्ठ होता है जो प्रजा के कल्याण के लिए निरंतर प्रत्यनशील रहता है।

सप्तांग सिद्धान्त का दूसरा तत्व अमात्य या मंत्री है। इस तत्व का भी विशिष्ट स्थान है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सभी कार्यों के सम्पादक अमात्य ही होते हैं। क्योंकि जनपद की कार्यसिद्धि अपना और दूसरों का योग-क्षेम-रखना विपत्तियों का प्रतिकार, खाली पड़ी भूमि को बसाना और उन्नत करना, सेना का संगठन करना, करों को एकत्र करना इत्यादि कार्य मंत्री के ही होते हैं। अतः अमात्य को उच्च बुद्धि वाला विद्वान, नीतिवान इत्यादि गुणों से युक्त होना चाहिए। सप्तांग सिद्धान्त का तीसरा और महत्वपूर्ण तत्व जनपद (राष्ट्र) है। भारतीय राजनीतिक विचारकों ने जनपद का प्रयोग राष्ट्र के अर्थ में किया है। कौटिल्य अपनी कृति 'अर्थशास्त्र' में जनपद के प्रकृति का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जनपद को स्थायी होना चाहिए, उसके मध्य और

सीमान्तों पर पुर होने चाहिए, उसका क्षेत्रफल इतना विस्तृत हो कि अपने जनपद तथा संकट के समय शरणार्थियों का भरण-पोषण किया जा सके। सिंचाई के साधनों से सम्पन्न उपजाऊ क्षेत्र ही जनपद के योग्य होता है। उपरोक्त गुण से विरत क्षेत्र को कभी भी जनपद के रूप में राजा को नहीं स्वीकारना चाहिए। सप्तांग सिद्धान्त का अगला अवयव पुर या दुर्ग है। तत्कालीन समय में जनपद के मध्य में पुर की सत्ता होती थी जिसे दुर्ग के रूप में जाना जाता है। कौटिल्य के अनुसार यदि दुर्ग न हो तो कोष पर शत्रु सुगमता से अधिकार कर लेगा, अतः मजबूत एवं शक्तिशाली दुर्ग का होना राज्य के लिए आन्तरिक एवं वाह्य सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। सप्तांग सिद्धान्त का अगला अंग कोष है। इसकी व्याख्या करते हुए कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में कहा है कि राज्य के स्थायित्व के लिए कोष का होना अत्यधिक आवश्यक है। उनके अनुसार कोष में निम्नलिखित गुण होने चाहिए उसे धर्मपूर्वक अधिगत होना चाहिए, चाहे पूर्ववर्ती राजाओं ने उसे प्राप्त किया हो या राजा ने उसे स्वयं अधिगत किया हो। कोष को प्रधानतया स्वर्ण व रजत के सिक्कों तथा विविध रंगों व भारी वजन के रत्नों से पूर्ण होना चाहिए और उसे मात्रा में इतना अधिक होना चाहिए कि वाह्य आक्रमण, दुर्भिक्ष व अन्य आपत्तियों के समय उससे निर्वाह चल सके।6 सप्तांग सिद्धान्त का अगला अंग सेना है। राज्य रूपी संस्था के लिए सेना का बहुत अधिक महत्व है, क्योंकि वाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा और आन्तरिक अशान्ति का मुकाबला उसी के द्वारा संभव है। सेना के गुणों का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि राजा के सैनिक ऐसे होने चाहिए जिनका वंश परम्परागत सैनिक पेशा हो, सेना स्थायी होनी चाहिए, उसे अनुशासित होना चाहिए तथा सैनिक की पत्नियाँ व सन्तान उस भृत्ति से संतोष अनुभव करे जो उन्हें दिया जाय। सप्तांग सिद्धान्त का अन्तिम अवयव 'मित्र' है। 'मित्र' को भी राज्य संस्था का आवश्यक अंग माना गया है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश भी प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रियों की इस अवधारणा की पुष्टि करता है। कौटिल्य के अनुसार मित्र राज्य ऐसे होने चाहिए जिसके साथ पितृपितामह आदि के समय से मैत्री सम्बन्ध चला आ रहा है जो स्थायी हो, जिनमें नियंत्रण की सत्ता हो, जिसे शीघ्रता से अपने विरूद्ध न लाया जा सके और जो शीघ्रतापूर्वक बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर सकने में समर्थ हो।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अमात्य या मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता पर राजा के विशेष सन्दर्भ में बल दिया है। उन्होंने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या तय नहीं की है, किन्तु मंत्री निष्कलंक, बुद्धिमान, चतुर, उचित निर्णय लेने वाले कर्त्तव्य की उच्च भावना से ओत-प्रोत होने चाहिए। मंत्रियों को इतना वेतन अवश्य देना चाहिए कि उनके आश्रितों का उचित तरीके से भरण-पोषण हो सके। मंत्रिपरिषद् का महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह राजा पर नियंत्रण रखने के साथ-साथ राजा को प्रजा के हित में उचित सलाह देती रहे, जिससे प्रजा व सेना विद्रोह न करे।

कौटिल्य प्रशासनिक व्यवस्था पर भी विशेष जोर देते हुए कहते हैं कि राज्य का प्रशासन सदैव प्रजा हित में होना चाहिए। कौटिल्य अपनी प्रशासनिक व्यवस्था में निपुण गुप्तचरों पर विशेष बल देते है, क्योंकि गुप्तचर व्यवस्था ही वह आधार है, जिससे राजा को प्रजा तथा अन्य राष्ट्रों की गतिविधियों की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। कौटिल्य न्याय व्यवस्था पर अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ''समुचित न्याय-व्यवस्था राज्य का प्राण है''। जो राजा अपनी प्रजा को न्याय नहीं दे सकता वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायालयों की चर्चा की है- धर्मस्थली एवं कष्टकशोधन। धर्मस्थली न्यायालय में नागरिकों के पारस्परिक अधिकारों से सम्बन्धित विवाद जैसे-सम्पत्ति, उत्तराधिकार, गावों का बन्दोबस्त ऋण, सामाजिक दुराचार इत्यादि से सम्बन्धित विवादों का निपटारा किया जाता है। कष्टकशोधन न्यायालय में राजा एवं राज्य के

शत्रुओं से सम्बन्धित विवादों का निर्णय किया जाता था। कौटिल्य ने न्यायालयों के संगङ्गन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 10 ग्रामों पर एक 'संग्रहण' 400 ग्रामों पर श्वेणमुख, 800 ग्रामों पर मध्य स्थानीय तथा समूचे जनपद के लिए सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जानी चाहिए। राजा ही समस्त न्यायालयों का सर्वोच्च न्यायाधीश होता है। न्यायिक व्यवस्था में कौटिल्य ने वादी-प्रतिवादी के वक्तव्य, साक्षी और गुप्तचर व्यवस्था को अपनाने का सुझाव दिया है। न्यायाधीश को निष्पक्ष न्याय प्रदान करते समय आयु, लिंग और वर्ण का भी ध्यान रखना चाहिए। न्यायाधीशों पर भी राजा को निगरानी रखनी चाहिए। कौटिल्य कानून और दण्ड व्यवस्था पर भी विचार किया है। कौटिल्य के अनुसार कानून के चार स्रोत हैं, धर्म, व्यवहार, प्रजा तथा न्याय। राजा को कुप्रथाओं का अन्त करना चाहिए। दण्ड व्यवस्था के सन्दर्भ में कौटिल्य समानता के सिद्धान्त को नहीं मानते। बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष तथा वर्ण के आधार पर दण्ड भेद किया जाना उचित मानते हैं।

पर राष्ट्र नीति के सन्दर्भ में कौटिल्य का विचार अनुपम एवं अद्वितीय है। उन्होंने पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध के विषय में मण्डल सिद्धान्त एवं षाड्गुण्य नीति का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य ने अपने मण्डल सिद्धान्त द्वारा राज्य में प्रशासनिक सुरक्षा एवं विदेशी सम्बन्ध के संचालन की विधियों का उल्लेख किया है। कौटिल्य का उद्देश्य तत्कालीन भारत के छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर विशाल सुदृढ़ एवं शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना करना था। उन्होंने कुशल शासक की संकल्पना 'विजिगीषु' के रूप में की है। विजिगीषु ऐसा नृप है जो विजय की कामना करता है, अर्थात् वह देश के अनेक राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित करके अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है। कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु राज्य का सीमावर्ती राज्य उसका स्वाभाविक शत्रु होता है। इसी तर्क के अुनसार शत्रु राज्य का सीमावर्ती राज्य उस राज्य का शत्रु होता है। शत्रु का शत्रु मित्र होता है। जो राज्य विजिगीषु और उसके शत्रु दोनों की सीमाओं में लगा हो, वह इनमें से किसी का भी शत्रु या मित्र हो सकता है। उसे मध्यम कहा जाता है। वह इन दोनों में से किसी भी पक्ष के साथ संधि कर सकता है। जो राज्य विजिगीषु और शत्रु की सीमाओं के परे हो, वह न तो स्वभावतः इन दोनों में से किसी का शत्रु होता है और न मित्र होता है। उसे उदासीन कहा जाता है। वह अपनी इच्छा या विवेक से किसी भी राज्य के साथ संधि कर सकता है या तोड़ सकता है। इस प्रकार विजिगीषु उसके मित्र, शत्रु, मध्यम और उदासीन के संयोग से चार समूहों या मण्डलों का निर्माण होता है जो इस प्रकार है-

प्रथम मण्डल- इसमें स्वयं विजिगीषु, उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र सम्मिलित है।
द्वितीय मण्डल- इसमें विजिगीषु का शत्रु, शत्रु का मित्र और शत्रु के मित्र का मित्र सम्मिलित है।
तृतीय मण्डल- इसमें मध्यम, उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र सम्मिलित है।
चतुर्थ मण्डल- इसमें उदासीन, उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र सम्मिलित है।

इन चारों मण्डलों के संयोग से बृहद् राज्यमण्डल की रचना होती है। चूंकि प्रत्येक मण्डल में तीन-तीन राज्य आते हैं, इसलिए बृहद् राज्य मण्डल में 12 राज्य आते हैं। इन्हें राज्य प्रकृति कहा जाता है।

कौटिल्य कूटनीति पर भी विशेष बल देते हैं। इसके लिए वे साम, दाम, दण्ड एवं भेद की बात करते हैं। इसके साथ ही कौटिल्य ने विदेशी नीतियों के संचालन के लिए छः प्रकार की नीतियों की चर्चा की है जिसे षाड्गुण्य नीति के रूप में जाना जाता है। इनका विश्लेषण निम्न है-

(1) संधि (Treaty of Peace) अर्थात् शान्ति बनाए रखने के लिए गठबंधन बनाने की नीति।
(2) विग्रह (Hostility) अर्थात् युद्ध करने का निर्णय।

(3) यान (Mobilization) अर्थात् युद्ध घोषित किए बिना आक्रमण तैयारी की नीति।
(4) आसन (Neutrality) अर्थात् उदासीनता या तटस्थता की नीति।
(5) संश्रय (Suboardiante Alliance) अर्थात् अन्य राज्य का संरक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न करना।
(6) द्वैधीभाव (Diplomatic Manoeuving) अर्थात् एक राजा से शान्ति की संधि करके दूसरे के साथ युद्ध करने की नीति।

इस प्रकार कौटिल्य का अभिमत है कि बुद्धिमान राजा उपर्युक्त विधियों में से अपने राज्य के कल्याण की दृष्टि से जिन्हें उपयुक्त समझेगा उनका अनुसरण करेगा। राज्य का हित ही नीति का सर्वोत्तम निर्णायक होना चाहिए, कोरी वीरता या पराक्रम के प्रदर्शन के लिए किसी नीति का अनुसरण नहीं करना चाहिए। ऐसा कौटिल्य का स्पष्ट विचार है।

आचार्य कौटिल्य धर्म सम्बन्धित विषयों पर भी अपना विचार व्यक्त किया है। उनका स्पष्ट अभिमत है कि किसी भी समस्या का निराकरण सर्वप्रथम हमें धर्म के आधार पर करना चाहिए। धर्म व्यक्ति तथा समाज को गति देने का कार्य करता है। धर्म के अतिरिक्त उन्होंने पर्यावरण एवं शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर भी विचार प्रस्तुत किया है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में कौटिल्य की देन को हम निम्नलिखित रूपों में व्यक्त कर सकते हैंः-

(क) कौटिल्य के चिन्तन की भारतीय राजदर्शन के लिए महत्वपूर्ण देन यह है कि इन्होंने अपने पूर्व में प्रचलित राजनीति विचारकों के विचारों को एकत्र कर उनको व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। उल्लेखनीय है कि आचार्य कौटिल्य के पूर्व कई आचार्यों ने अर्थशास्त्र का प्रणयन किया था जिनमें शुक्राचार्य, बृहस्पति इत्यादि प्रमुख है। परन्तु उनके विचारों में क्रमबद्धता का अभाव था। आचार्य कौटिल्य ने सभी पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों को व्यवस्थित कर अपनी कृति अर्थशास्त्र का प्रणयन किया, जो कि भारतीय राजदर्शन को समझने के लिए एक प्रमाणित एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है। इस सन्दर्भ में रामास्वामी का कथन उल्लेखनीय है- ''कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य से पूर्व की रचनाओं में इधर-उधर बिखरी हुई राजनीति बुद्धिमता और शासन कला के सिद्धान्तों एवं कला का संग्रह है। कौटिल्य ने शासन कला के एक पृथक एवं विशिष्ट विज्ञान की रचना करने के प्रयास में उनका नवीन रूप में विवेचन किया है।''[7]

(ख) आचार्य कौटिल्य के पूर्व जितने भी भारतीय चिन्तक हुए लगभग सभी ने धर्म एवं नैतिकता की पृष्ठभूमि में ही राजनीतिक विचारों का विश्लेषण प्रस्तुत किया, परन्तु कौटिल्य एक मात्र ऐसे प्रथम भारतीय राजनीतिक चिन्तक हुए जिन्होंने 'राजनीतिक' सिद्धान्तों की स्वतंत्र विषय के रूप में चिन्तन प्रस्तुत किया। इस प्रकार कौटिल्य ने भारतीय राजनीतिक सम्प्रत्ययों का विश्लेषण उसी रूप में किया है, जिस प्रकार पश्चिम में उनके समकालिक विचारक अरस्तू ने किया है। इस परिप्रेक्ष्य में श्रीकृष्णराव का कहना है कि-''अर्थशास्त्र का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसने भारतीय स्वभाव और चरित्र की पारलौकिकता की ओर अधिक झुके होने की प्रवृत्ति के दोष को सुधारने का कार्य किया।''[8]

(ग) भारतीय राजदर्शन के लिए कौटिल्य की महत्वपूर्ण देन है उनका यथार्थवादी होना। कौटिल्य एक यथार्थवादी चिन्तक थे, क्योंकि उन्होंने अच्छे सुशासन के लिए राज्य के सप्तांग सिद्धान्त, राजस्व व्यवस्था, षाड्गुण्य नीति, शाम, दाम, दण्ड एवं भेद की नीति इत्यादि को आवश्यक

माना। उनका स्पष्ट अभिमत था कि राजा को अपना शासन ऐसे मंत्रियों के परामर्श से चलाना चाहिए, जो निःस्वार्थ त्यागी और योग्य हो। यह सत्य आज भी उतना ही उपयोगी एवं यथार्थ है। कौटिल्य को भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में राज्य की लोककल्याणकारी व्यवस्था का जनक माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने 'अर्थशास्त्र' में राजा को लोक कल्याणकारी होने के लिए प्रेरित करते हुए लिखा है-

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं प्रियं राज्ञः, प्रजानां तु प्रियं प्रियम्।।[9]

अर्थात् प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में उसका हित है। राजा का अपना प्रिय (स्वार्थ) कुछ नहीं है, प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है।

(घ) कौटिल्य के विचारों की महत्ता को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि उन्होंने न केवल राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया वरन् अपने व्यावहारिक चिन्तन की कुशलता के आधार पर तत्कालीन भारत देश को एक केन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था प्रदान किया। इस सन्दर्भ में यहाँ पर एन0सी0 बन्द्योपाध्याय जी का कथन उल्लेखनीय है-''महाकाव्यों तथा पुराणों के वीर पुरुषों के बाद भारतीयों का अन्य किसी नाम से इतना परिचय नहीं है, जितना कि चाणक्य के नाम से। सम्पूर्ण भारत में शासन कला तथा कूटनीति का अध्ययन आरम्भ करने वालों को अभी तक उनके नाम से सम्बन्धित नीतियां सिखाई जाती है।''[10]

राजनीतिक चिन्तन के सन्दर्भ में आचार्य कौटिल्य की विशिष्टता इस बात से और प्रमाणित हो जाती है कि विद्वत् जगत में उनकी तुलना अरस्तू मैकियावली इत्यादि से की जाती है। उनके द्वारा प्रस्तुत राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त, परराष्ट्रनीति का सिद्धान्त, गुप्तचर व्यवस्था, न्यायव्यवस्था, करारोपण का सिद्धान्त, कल्याणकारी राज्य की अवधारणा इत्यादि का अनुसरण करके कोई भी राज्य अपनी राजनीतिक व्यवस्था की दशा एवं दिशा को सम्यक् दृष्टि प्रदान कर सकता है।

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. Shamasastry, R.-English Translation Arthashastra, 1951
2. Ghosal, U.N.-A History of Indian Political Ideas, Oxford University Press, Madras, 1966.
3. अर्थशास्त्र, अधिकरण 15 अध्याय 1
4. Rao, M.V. Krishna, Studies in Kautilya, p. 190
5. गौरोला वाचस्पति (अनुदित)-'कौटिल्य का अर्थशास्त्र', चैखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1996
6. काणे, पी0वी0-'धर्मशास्त्र का इतिहास' (अनुदित), चैबे, अर्जुन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान भाग-5, पृ0 66, 1996
7. Ramaswami T.N., Essential of Indian Statecraft, p. 1
8. Rao M.V. Krishan, Studies in Kautilya, p. 179
9. अर्थशास्त्र, 1/19
10. Bandyopadhya, N.C., Kautilay, p. 1-3.

The Pragmatic Implications of Gandhian Insights of Ahimsa

Professor Indoo Pandey Khanduri
Department of Philosophy
HNB Garhwal University, Srinagar (Garhwal), Uttarakhand

I

Historical Background of Gandhian Notion of Ahimsa

No thought or theory comes out of vacuum and the Gandhian commitment of Ahimsa also has its roots in the classical Indian literature. Gandhi captures certain ideas from the classical literature but not as it is, rather he modified it according to the need of his time. The real spirit of the changing need and requirements could be understood only through understanding its roots. Thus, we shall try to understand the historical ideas related to Ahimsa. For understanding the Vedic tradition we rely on Taittiriya Samhita, Shatpath Brahman and Chandogya Upnishad. Here we try to understand the Gandhian notion of Ahimsa in the light of the concept given in Vedic literature, Jainism and Buddhism.

The term '*ahimsa*' appeared for the first time in the '*Taittiriya-Samhita*' of the ***'Krishna Yajurveda'*** TS 5.2.8.7 where it refers to non-injury to the one who sacrifices himself.[1] It occurs several times in '*Satapatha-Brahmana*' in the sense of non-injury without a moral connotation. *Satapatha-Brahmana* states:

Now, when he performs the animals offering he thereby redeems himself….

And this, indeed, to wit, flesh, is the best kind of food:

He thus becomes an eater of the best kind of food. Let not a year passes by for him without his offering.

In the Vedic conception ahimsa is not applicable to enemies in war, to wicked people, offending beast and animals to be sacrificed or to be killed for one's livelihood. Latter on the concept of non-violence developed especially as a reaction to the unrestrained killing of animals during the Vedic period. In the *Upanishads,* the concept *ahimsa* is in its nascent stage. T.W. Rhys Davids states that, the doctrine of *ahimsa*: "…first finds expression in the mystical passage in the *Chhandogya Upanishads* 3.17 where five ethical qualities one being *ahimsa* are said to be equivalent to a part of sacrifice of which the whole life of man is made an epitome."[2]

Here, we may see that ahimsa is one of the *five* essential virtues listed in this *Upanishad* the others being *tapas* (penance), *danam*

(alms), *arjavam* (honesty), and *satyavachanam* (truthfulness). It further states that one who practices ahimsa towards all 'living beings' (*sarva-bhuta*) except at holy places escapes reincarnation. This indicates that the sacrifice of animals, however at holy places (*tirtha*) was not considered as violence. The '*Chhandogya Upanishads*' also mentions, 'Thou Art thee'[3] which teaches *ahimsa* even towards sub-human beings. Since violence done for the betterment of society and others is not violence rather non-violence.

Coming to non-Vedic tradition, we shall take help of Jainism and Buddhism for our understanding. Jainism defines *ahimsa*, if one avoids the killing of human beings, birds and animals, and plants even in pramad, such kind of vow is called real *ahimsa*. In Jainism, *Jnana* (knowledge of reality as it is), '*Sraddha*' (faith in teachings of Jainas), and '*Caritra*' (cessation from doing all that is evil) are the three jewels that lead one to salvation. This *Caritra* i.e. right conduct consists of five vows; of which *ahimsa* is the first with *Satya, Asteya, Brahmachraya, and Aparigraha* beings its secondary corollaries.[4] Thus, Jainism believes that non-violence leads one to salvation: *Ahimsa* is the best medicine for the suffering arising from the disease of the world-whirling. It is the benefactor of all beings, similar to a good mother. Non-violence is the canal of nectar in the whole world-desert.[5]

The Jainas prescribe *five* rules called '*samitis*' to observe *ahimsa*. The 'Samitis' includes *careful movement, careful speech, careful eating, careful placing,* and *removing and careful evacuation*. These acts of carefulness refer mainly to the non-killing of any existing beings and to vocal non-violence.[6] Thus we find that Jainism teaches one to observe *ahimsa* both in physical and vocal terms. Jainism mentions some kinds of *himsa* namely '*samkalpihimsa*' or intentional injury and '*arambhihimsa*'. *Arambhihimsa*is sub-divided into three categories: (a) '*Udyamihimsa*'; that is one committed during the implementation of ones profession as in industry, art, trade etc. (b) '*Virodhihimsa*' i.e. one committed in self-defense against thieves, enemies and all those who intentionally kill or injure human-beings or other non-human living beings which do not cause any trouble to humankind. (c) '*Grha-arambhihimsa*' i.e. one which becomes inevitable in the performance of the household duties such as cooking food, the construction of buildings, wells, gardens, the maintenance of cattle etc. Modern interpreters of Jainism believe that, '*samkalpinikhimsa*' may be avoided while the others may be permissible under certain situations.[7] Thus, in Jainism , violence

may be justified only in self-defense and in other permissible professions of a soldier, agriculture, trade etc.

The followers of Jainism make considerable efforts to avoid injuring plants in everyday life and killing of animals for food is strictly prohibited. They go out on the extreme side not to hurt even small insects and other minute animals. They observe that injury caused by carelessness is as severe as one done deliberately. According to Jainism, this world is full of embodied souls experiencing pain and all kind of activities involves violence. So it insists that the follower of Jainism should engage in the fewest possible worldly activities to escape being a part of violence. Jain scripture '*Uttaradhayayana sutra*' states that: The essence of the wisdom of a wise man lies in this that he hurts no creature: to be equal-minded to all creatures and regard them as one's own self is ahimsa. Learn this noble truth.[8] The understanding and implementation of *ahimsa* in Jainism therefore is more radical, scrupulous, and comprehensive than in any other religion. [9]

In the study of *ahimsa* the life and teachings of Gautama Buddha takes the foremost place. The emancipator, Gautama Buddha emerged at this ripe time and he preached *ahimsa* as a way to communal harmony and social progress. According to Buddhism, *life* should be governed by the five principles or '*Panchsheel*' namely not to kill, not to steal, not to tell lies, not to commit adultery, and not to use intoxicants. The principle of Panchsheel is the cardinal precept of Buddhist's *ahimsa*. The Buddhist doctrine of non-violence is more practicable as it is free from extremes. Therefore, the path of the Buddha is accordingly called the 'Middle Path'. The basic tenet of the doctrine of Middle Path (avoidance of extremes) also emphasizes *ahimsa*. The tenet includes non-violence, non- hatred, friendliness to all, renunciation, continence and the ideal or reaching *nirvana* i.e., freedom from the cycle of birth. The two basic teachings of Buddhism namely '*avera*' or non-hatred and '*karuna*' or compassion too leads to non-violence. T.W. Rhys Davids refers to the eight-fold path of Budhism as 'the very essence of Buddhism' and this noble eight-fold [Samyak Drishti, Samyal Samkalp, Samyak Vak, Samyak Karmant, Samyak Aajiva, Samyak Vyayam and Samyak Smriti] path is essentially non-violent. *Ahimsa* also finds its place in the ten precepts for the called '*Sikha Padani*'[10] Thus, *ahimsa* is a widely mention term in the teachings of Buddhism. As T. W. Rhys Davids rightly brings out: "It (non-killing) occurs twice in the eight-fold

path, first under right aspiration, and again under right conduct…. It is the first in the Ten precepts for the Order, and therefore of the five rules of conduct for laymen (*Panchsilani)*."[11]

Buddhism considers life to be a sacred one and therefore renounces violence. Buddha exhorts, 'Just as a mother as long as she lives cares for her only child, so should man feel an all-embracing love to all living beings.' Buddha believes that violence can lead only to violence, "Never in this world has hatred ceased by hatred, hatred ceases by love." He tried to cultivate peaceful atmosphere and love even for the enemy. His doctrine of *ahimsa* emphasizes to return love for hatred and to avoid all kinds of violence. He urges for compassion for all life forms. Buddha sought to remove all evils from man and considered that violence too is an evil which destroys the best qualities of a human individual. He believed that hatred, enmity, anger and envy ultimately lead one to violence, and therefore, should be avoided up to best of one's efforts. About violence, Buddha writes: "If a man by causing pain to others wishes to obtain pleasure for himself, he, entangled in the bonds of selfishness will never be free from hatred." [12] Thus, in Buddhism, non-violence is more at the mental level and several Buddhist scriptures point out at vocal non-violence. It asks the followers to remain affectionate and pleasing even in their speech. Buddha preached everyone to follow *ahimsa*. He said, "Lead others, not by violence, but righteousness and equity."[13] According to *Dhammapada,* Buddha pointed out that one who carries on his tasks with violence is neither righteous nor religious. He said that he who has truth, virtue, non-violence, restraint, and control and is free from impurity is a wise man and can be called an elder.[14] The entire life of Buddha is full of *ahimsa* and his teachings easily got imbibed among the people.

We may conclude by stating that Gandhian Notion of Ahimsa has the background of Vedic traditions as Samhita, Brahman and Upanishads and non-Vedic traditions like Jainism and Buddhism. It takes the foundations of the concept of Ahimsa from Vedic traditions in terms of defining it as non-injury or non-killing in a quantified way that excludes the killing and injury involved if used for food and survival in day to day life and just like Vedic tradition it was accepted as one of the virtue of human being and Gandhi also accepted it as a means to achieve the end of truth. In accordance to non-Vedic tradition of Jainism, Gandhi considers it as the first and prominent virtue of human conduct

which could be best treatment to get out of sufferings. For the observance of Ahimsa, it requires careful movement, speech, eating, placing and removing and evacuation. Gandhi also accepted Jainism version of Ahimsa while permitting quantified Himsa but with minimum justified need for day to day survival issues. Similarly, he also accepted the middle path of Buddhism when he prepares the foundations of Ahimsa grounded in love, compassion and non-hatred-ness. These are the historical background with which Gandhi prepares his ideas about non-violence.

II
Gandhian Notion of Ahimsa

After providing the historical background, in the previous section, we shall try to deal with the notion of Gandhian ideas of Ahimsa, in terms of its meaning in the negative connotations as non-killing and non-injury and its positive foundations as it pre-supposes a non-violent act to be free from hatred, anger and malice. As a positive connotation, there are two positive principles of Ahimsa- one it represents one of the basic and essential qualities of mankind and two Ahimsa is considered to be the law of all the species.

This is true that Gandhi is using this word in some special sense which is entirely different from its traditional or customary sense but Gandhi has emphasized certain aspects of 'Ahimsa' which have not been given by any other believer in Ahimsa. In Gandhian thought, the word Ahimsa has both negative and a positive import. The positive aspect of its meaning is more fundamental for Gandhi, because it comprehends the negative aspect also and represents its essence. [15] As a matter of fact, Ahimsa is conceived as non-killing, non-injury or to say is conceived as opposite of himsa. Gandhi accepts this and adds much more to its content. Gandhi accepts this and adds much more to its content. He also accepts that himsa means causing pain or killing any life out of anger, or with the intention of injuring it. Refraining from doing all this is Ahimsa.

In the words of Gandhiji: "In its positive form, Ahimsa means the largest love, the greatest charity. If I am a follower of Ahimsa, I must love my enemy. I must apply the same rules to the wrongdoer, who is my enemy or a stranger to me, as I would to my wrong doing my father or son, this active Ahimsa necessarily includes truth and fearlessness." [16] In fact, in its positive aspect Ahimsa is only love. Love is kind of feeling of oneness. In an act of love one identifies himself with the object of his love. This is how Gandhiji defined true

love, "True love consists in transferring itself from the body to the dweller within and then necessarily realizing the oneness of all life inhabiting numberless bodies."[17] Ahimsa includes the whole creation and not only human beings. Ahimsa, therefore, in its active form is goodwill towards all life. Ahimsa, in its positive form, means the willingness to treat all beings as one's very self, a standpoint repeatedly stressed in Gita.[18] On the basis of above statement we may say that Gandhi considers it almost a virtue to take life under certain conditions. In fact, he feels that conditions similar to the examples given by continuing to live itself is pain and that, therefore, non- killing amounts to prolonging pain and agony. Thus non-injury has been conceived in a slightly different manner by Gandhi. He is of the different opinion that killing or injury to life can be an act of violence only under certain conditions. These conditions are anger, pride, hatred, selfish considerations. Any injury to life done under these motives is himsa. Thus the negative meaning of Ahimsa is non-violence or non-injury: but this pre-supposes that a non-violent act is free from hatred, anger, malice and the like. There are two positive principles of Ahimsa; one Ahimsa represents one of the basic and, essential qualities of mankind and two, Ahimsa is considered to be the law of our species. History teaches us that those who have, even with sincere and honest motives, ousted the greedy and the dishonest by using brute force against them, have, in their turn, become a prey to those evil things with which the dishonest had suffered. His oft-quoted assertion: "Ahimsa is nothing but love" and love according to Gandhi, is the energy that cleanses one's inner life and as such, love comprehends such noble feelings as benevolence, compassion, forgiveness, tolerance, generosity, kindness, sympathy etc.

Non-violence pre-supposes the ability to strike. [19] One who is practicing Ahimsa has the strength to overpower his adversary and still he practices Ahimsa because 'Ahimsa' is a conscious and deliberate restraint put upon one's desire for vengeance. Gandhiji considers Ahimsa to be essentially a positive and dynamic force. Non-violence does not mean meek submission to the will of the evil-doer. It means is conceived as gospel of action. It means pitting of one's whole soul against the will of the tyrant. Working under this law of our being, it is possible for a single individual to defy the whole might of an unjust empire [20] Non-violence is conceived as a gospel of action. It is not an attitude of indifference or passivity. It is true that the seeds of non-violence lie deep down in the heart,

but they are expressed and given shape in actions. Therefore, non-violence is a dynamics process involving continuous and persistent deliberations, efforts, strains and actions. It is true that non-violence requires extreme patience on the part of one, who is using this method, but this patience is not a sign of inactivity, it is an expression of a conscious and inner effort to force, the so called opponent to see and realize his own mistake. Gandhi also feels that non-violence conceived as love and conscious suffering can give full protection to one's self- respect and sense of honor. In fact, the non-violent man does not bend; it is the opponent who has to bend. He, in-fact, practices forgiveness in the maximum degree, and in the process the opponent is almost put to same. [21]

While dealing with Ahimsa Gandhi ji seems to be influenced by Jainism which recommends the practice of Ahimsa in thought, speech and action. According to it, even thinking ill of others is himsa. Not only this, Jainism demands that one should not only commit himsa himself, he should not cause himsa or permit himsa to take place. Gandhi's negative connotations of Ahimsa are not as rigid as that of Jaininsm, because is aware that it is possible to observe non-violence in as strict and rigid manner as Jainism demands. He is aware that in certain cases himsa is unavoidable, as for example in the process of eating, drinking, walking, breathing etc. It is impossible to sustain to one's body without injuring other bodies to some extent. In Young India, He says: Taking life may be a duty. We do destroy as much life as we think necessary for sustaining over body. Thus, for food we take life, vegetable and other, and health we destroy mosquito and the like by the use of disinfectants etc. and we do not think that we are guilty of irreligion in doing so… for the benefit of the species we kill carnivorous beats…even man slaughter may be necessary in certain cases.[22]

We may conclude this section by stating the fact that Gandhian notions of Ahimsa has three fold foundations one as non-killing or quantified non-injurious acts, two as the essence and species of laws and three as prominently one core virtue involving true love and greatest charity, Good will towards all life. It also incorporates gospel of action, fearlessness, tolerance, generosity, kindness, sympathy, patience and positivity. In one sentence we may say Gandhian notion of non-violence is based on Vedic concept of Samhita, Brahmana and Upinshads as well as non-vedic tradition Jainism and Buddhism and modified it from the requirements and need of that particular period. Since, Gandhi accepted the notion

of non-violence incorporating the entire traditional background but modified it from the contemporary requirements.

III
Pragmatic Implication of Non-Violence

After explaining Gandhian notion of non-violence in previous section, in the present section, we shall try to understand its pragmatic implications in terms of individual, surroundings and society. From the individual point of view it becomes an instrument to achieve the end of truth. As it is cited in the following words: ". Several important consequences flow from Gandhi's ethical premises. Non-violence ceases to be an instrumental value.[23] It ceases to be merely a negative concept…..it comes to acquire a rich positive content. Its expression as an end, and not merely as a means or policy, is a non-acquisitive, non-exploitative, egalitarian society to which Marx's "total man" (not torn by the conflict between "essence" and "existence") finds his fulfillment-a peaceful society in the true sense of this phrase."[24] It is further said;"In its positive form, Ahimsa means the largest love, the greatest charity. If I am a follower of Ahimsa, I must love my enemy. I must apply the same rules to the wrongdoer, who is my enemy or stranger to me, as I would do to my wrong-doing father or son. This active Ahimsa necessarily includes truth and fearlessness."[25]

From the point of view of surrounding the virtue of compassion attached to Ahimsa becomes vital as it relate the one to others in a positive way. This could be verified in the following words: "Gandhi's non-violence is the heightening of man's sense of compassion which is not passive like that of a religious mystic. It furnishes an activist social ethics that seeks to institutionalize non-violence and compassion-neither to codify violence in the name of compassion, nor to postpone the practice of compassion to a nebulously distant future that recedes farther in the lazy revolutionary violence."[26]

Equipped with the quality of compassion, the observance of non-violence also directs to the routs towards ethical purity of motivation. Gandhi's ethics of non-violence bridges the gulf between ends and means. It maintains the continuity between means and ends. Non-violence as a means prepares the way for the realization of non-violence as a means prepares the way for the realization of non-violence a comprehensive end that ends all conflict. Practice of non-violence as a means, whether to remove local grievances of a specific character, or to wrest political power,

or to bring about a socio-economic revolution amongst the oppressed masses, has to conform to a standard of ethical purity of motivation. If it does, the end, as Gandhi used to say sometimes mystically, takes care of itself. Gandhi thus conceived of not only the continuity of means and ends but also their symbolic relationship in a unity. It is not interpretation of contradiction in a means-end dialectics-the conflict between means and ends tragically caught in a vicious spiral along which mankind seems leap forward into nothingness.[27] The above narration made it explicit that the practice of non-violence whether it is related with individual attitude or surrounding in terms of the relation to others, it resolve the conflicts of ends and means. It provides healthy insights to resolve the conflicts at political and social fronts as well.

It is from this points, the practice of non-violence paves the instructions to human behavior for social co-ordination as well. Since the practice of non-violence avoids the one-sided assertion in any reference, thus it avoids the scope of the differences of opinion: "Imagine a society in which, in the face of differences of opinion, people bring into display not just the intellectual but also the moral paraphernalia…. That would, needless to say, be as non-violent a way as possible of dealing with these differences of opinion. I am tempted to say here that a discussion group in which there obtains not just the intellectual but also moral paraphernalia…. As belonging to it, looks like being on the way to becoming a society in which people are more or less fond of one another (looks like being on the way to becoming a kingdom of love, to express the same thought somewhat exaggeratedly.)" [28] It is further said: "…. We find that, insofar as it is performed with a view to resolving a difference of opinion and not with a view to causing somebody hurt, an act of discussion would be a non-violent action, because it is not its constitutive part that its very performance will cause hurt."[29] For Gandhiji Ahimsa is based on the faith of the unity of the existence of the spirit and the fellowship of all living beings on earth and above all in a reverence for life. Hence I prefer to call Gandhi's ethics metaphysical ethics. Although Gandhi preferred to use a negative word like 'non-violence', he regarded it as a positive force superior to all the force of brutality. In this sense it is an active force of the highest order. "It is soul-force or the power of the Godhead within us.

Concluding Remarks: The Gandhian notion of Ahimsa is not a new idea rather it is deep rooted in Indian tradition of spiritual

and classical studies. But it is innovative in the sense that Gandhi has made an addition to its practical experiments as it was cited in the following words: "I have nothing new to teach the world. Truth and non-violence are as old as hills. All I have done is to try experiments in both on as vast a scales as I could, in doing so, I have sometimes erred and learnt by my errors. Life and its problems have thus become to me do many experiments in the practice of truth and non-violence… In fact it was in the course of my pursuit of truth that I discovered non-violence." [30] We can conveniently conclude that for individual, the practice of Ahimsa involves the assumption of love for all at core of heart, along with tolerance, sacrifice, courage and standing for justice. From the surrounding point of view, the practice of Ahimsa implies a peaceful and harmonious environment for avoiding differences and conflicts. For society, rising above from selfish motive, the practice of Ahimsa inculcates the vision and creativity for inculcating, nourishing and growing better living conditions. Thus, apart from, being a means to the ends- Truth, the Gandhian insights into the practice of Ahimsa has multifarious pragmatic implications.

Note and Reference

1. Taiteriya Samhita**:** TS 5.2.8.7
2. T.W.Rhys David in the article on "Ahimsa" in *Encyclopedia of Ethics and Religion.*
3. Tatvasme_ *Chandyoga Upanishad,* 6/442.
4. Ray, B.N., *Gandhigiri, Satyagraha after Hundred Years*, (Kaveri Books, New Delhi, 2008), p.154.
5. Dhawan, Gopinath, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi,* Navjivan Publishing House, Ahmadabad, pp.15-16.
6. Ahimsa sunritastybrahmacharyaparigraha-Arhat Darshan-21.
7. Tahtimen, , p.57.
8. Ibid., p.66.
9. Purusartha-siddhyupaya, p.45.
10. Dhawan, Gopinath, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi,* Navjivan Publishing House, Ahmadabad), p17
11. *Ibid.*, p.17.
12. Dhawan, Gopinath, p.17
13. *Ibid.,* p.17.
14. Basant Kumar Lal: *Contemporary Indian Philosophy*, Moti Lal Banarasidass Publishers, pvt. Ltd. Delhi, 8th reprint, 2010, p.107
15. *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol.VI, p. 154

16. *Bapu's Letter to Meera*. Ahmadabad 1951, p.157
17. Kim SK, *The Philosophical Thought of Mahatma Gandhi*, Vikas Publishing House Pvt Ltd., New Delhi, 1996, p. 221
18. Young India-12-8-1926
19. Young India 12-8-1920
20. Young India: 11-8-1920
21. BK Lal, 112
22. Young India 4.11.26
23. B.N. Ganguli; Gandhi's *Social Philosophy Perspectives and Relevance*, Radha Publications, New Delhi, 1973 ed. 2006] p. 397
24. Ibid
25. R K Gupta- *Social Action and Non-Violence*, Indian Council of Philosophical Research, New, Delhi, 1995 P. 47
26 Ibid P. 64
27. S K KIM, *The Philosophical Thoughts of Mahatma Gandhi*, Vikas Publishing House PVT, LTD. New Delhi, 1996, P.397
28. RK Gupta- *Social Action and Non-Violence. P.47*
29. RK Gupta- Social Action and Non-Violence, 1995, p. 64
30. *Young India* 11.8.1920

Deconstruction and Communicative Rationality Analysing The Anti-Thetical

Professor Raghwendra Pratap Singh,
Centre for Philosophy, School of Social Sciences
Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067

The present paper is an attempt to discuss critically the deconstruction of the French philosopher Jacques Derrida (1930-2004) and his German colleague social theorist Jürgen Habermas (L. 1929-). The unlikely comparison between Derrida and Habermas faces two–fold important questions: Can the self proclaimed 'philosopher deconstructor' and the 'universal pragmatist' have the richness of potential in their philosophical program and is the comparison really a sharing of the space between the covers? What is striking about their individual quests and thus about sharing of space though perhaps not to some who have long been of this view and thus could not countenance this as a comparison is that they seem to have as much in comparison as they have in separating them.

Critical Theory of the Frankfurt School is one of the philosophical schools of the much broader philosophical movement known as 'Postmodernity'. Other such schools are structuralism of anthropologist Claude Levi-Strauss, the cultural semiologist Ronald Barthes, the psychoanalytic theorist Jacques Lacan, the post structuralist Michel Foucault, the deconstructionist Jacques Derrida besides Richard Rorty Lyotard, Levinas and others. These representatives of postmodernity, each in his own way, have attempted to go ahead of Kant and Hegel, either by offering an emendation to Kantianism and Hegelianism or by making Kant and Hegel relevant in the changed intellectual climate in Europe and America. I shall re-assess the basic charges leveled by the Critical Theory of Habermas on the enlightenment rationality developed by Kant and Hegel's dialectic on the other.

The critical theory is the most important reaction to German idealism. The first generation critical theorists like Horkheimer, Adorno and Marcuse; and the second generation including Habermas attempt to go ahead of the 'closed', 'systemic' thinking of Kant and Hegel. It is the first criticism of modern science and the enlightenment rationality. Adorno and Horkheimer attempt to lay out, "The discovery of why mankind, instead of entering into a truly human condition, is sinking into a new kind of

barbarism."[1] Adorno's 'negative dialectics' or the 'immanent criticism' or the 'critical theory' is neither a 'pure scientific theory' nor a 'pure philosophy'. Critical theory is located 'between philosophy and science'. This makes the critical theory as negative dialectics which sets out not only to describe but also to criticize vigorously the existing social norms without recourse to either the fundamental concept of the enlightenment rationality (i.e. reason, freedom, truth) or the value-free model of science. With these clarifications about postmodernity and the critical theory, I shall come to Habermas.

However, I propose to mention in brief some of the founders along with the central and the marginal issues of European identity. The central issues of modern Europe could be identified in terms of ideology, scientific and technological development, logocentrism, foundationalism, essentialism, and teleology, unified world-order, rationality, conceptions of morality and justice, secularism, human rights, democracy, freedom, capitalism, etc. At the margins of European identity, we find that Europe has shrunk into finite propositions in terms of anti-foundationalism, anti-essentialism and anti-teleology, fragmentation, irrationality and plurality of ethnic identities, linguistic identities, etc.

It was the period of 16th to 17th century, that European society under went that crucial change, which marked the transition from tradition to modernity. It was the period when centre shifted from religion and revelation to science and human rationality. With this separation, the European Middle Age entered into the New Age (*Neuzeit*). We have a long list of philosophers who are the founders of modern European Identity. They are Descartes, Bacon, Galileo, Newton, Hume, Kant, Hegel, Marx, Mill, Comte, and so on. They radically liberated traditional thinking from the authority of the Church and highlighted the role of independent and rational thinking based on the achievements in science. The basic philosophical quests in modernism are the 'man can be interpreter of nature' (Bacon), an observer of the universe through an instrument such as the telescope and the mathematical foundation of the physical world (Cartesian-Galilean mechanics), universal law of gravitation (Newton), 'understanding makes nature' (Kant), 'what is actual is rational and what is rational is actual' (Hegel), `the point is to change the world' (Marx) - in a nut shell, one can shape and control the world through science is what inaugurates the modern European identity. So rationalism, empiricism,

transcendental idealism, dialecticism, Marxism, utilitarianism, positivism, etc. are the manifestations of European identity. Both Derrida and Habermas have developed their individual philosophic quest greatly under the influence of one or more of the central and the marginal issues of European identity. It is therefore imperative to outline a brief philosophic quest of Derrida and Habermas.

Professor Jacques Derrida (1930 to October 09, 2004) is one of France's most famous philosophers was born in a modest small town in Algeria, a Mediterranean land, endowed with abundant and fine quality of shine. At the age of 19 years, Derrida went to France. In his long academic career, Derrida worked at the Sorbonne and at several American universities. Derrida's ground breaking work in the 1960s and his ongoing achievements in the academic circle specially in America besides his constant and untiring engagements against apartheid in South Africa, supporting the dissidents in Czechoslovakia and most importantly Derrida/Habermas appeal entitled as "Europe and the global South toward a circle of equality", specially the second war on Iraq, are some of the landmark events of his life. He is best known for his deconstruction theory, vivisecting the anatomy of a text to strip away the concealing tissue of codified signifiers to reveal what lie beneath, shorn of the semantic superstructure of the deliberate or unwitting bias, unpicking the way text is put together in order to reveal its hidden meaning. Jacques Derrida's deconstruction could be described as 'the revenge of language in philosophy', tracing its lineages to the phenomenology of Edmund Husserl and Merleau-Ponty, which attempted to cut away the blinkers that "intentionality" imposed on the consciousness. Deconstruction is highly complex, not to say obscure, at its heart is the notion that each word and by its extension each text contains layers of meaning which have gone through cultural and historical processes.

Derrida's Quest: In an interview in Paris in 1981, Derrida has said, "My philosophical formation owes much to the thought of Hegel, Husserl and Heidegger."[2] Derrida hails originally from the phenomenological movement of Husserl, Heidegger and Levinas and it is within and around this particular framework more than anything else that his thinking has evolved. Derrida's 'deconstruction' questions such notions as the Idea of Plato, the Pure Thought of Aristotle, the *Cogito* of Descartes, the Transcendental Consciousness of Kant and the *Geist* of Hegel.

Derrida on Modern Western thought: "I have never been very happy with the term 'modernity'. Of course, I feel that what

is happening in the world today is something unique and singular. As soon, however, as we give the label of 'modernity', we inscribe it in a certain historical system of evolution or progress (a notion derived from Enlightenment rationalism), which tends to blind us to the fact what confronts us today is *also* something ancient and hidden in history. I believe that what 'happens' in our contemporary world and strikes us as particularly new has in fact an essential connection with something extremely old which has been covered over (*archidissimule*) so that the new is not so much that which occurs for the first time but that 'very ancient' dimension which recurs in the 'very modern'; and which indeed has been signified repetitively throughout our historical tradition, in Greece and in Rome, in Plato, in Descartes, in Kant, etc. No matter how novel or unprecedented a modern meaning may appear, it is never exclusively *modernist* but is also and at the same time a phenomenon of *repetition.* And yet the relationship between the ancient and the modern is not simply that of the implicit and the explicit. We must avoid the temptation of supposing that what occurs today somehow pre-existed in a latent form, merely waiting to be unfolded or explicated. Such thinking also conceives history as an evolutionary development and excludes the crucial notions of rupture and mutation in history. My own convictions are that we must maintain two contradictory affirmations at the same time. On the one hand we affirm the existence or ruptures in history, and on the other we affirm that these ruptures produce gaps or faults (*failes*) in which the most hidden and forgotten archives can emerge and constantly recur and work through history…The difference between our modes of thought does not mean that I or other 'modern' thinkers have gone beyond Plato…"[3]

Derrida's Deconstruction: With the above understanding of the history of Western thought, Derrida has this to say about deconstruction: "A sowing that does not produce plants, but is simply infinitely repeated…a semination that is not insemination but dissemination, seed spilled in vain, an emission that can not return to its origins in the father."[4] In *Positions,* he remarks, "In the final analysis, dissemination means nothing and can not be reassembled into a definition…"[5] and therefore deconstruction is not a theory, not a position, not a critique, not a technique, "not a method and can not be transformed into one."[6] With deconstruction, Derrida tries to transcend the binary oppositions like truth and falsehood, reality and appearance, good and evil,

etc. With deconstruction, Derrida dismantles these conceptual oppositions. It is the logic of *différance* that is the most operative term in Derrida's deconstruction. Richard Kearney, in a Prefatory Note on Derrida, writes, " Derrida was working out his central notion of the irreducible structure of *différance* as it operates in human consciousness, temporality, history, and above all in the fundamental and overriding activity of writing (L'e'criture). By means of this concept of *différance* – a neologism meaning both to **'defer'** and **'differ'—**, Derrida proposed to show how the major metaphysical definitions of Being as some timeless self-identity of presence (e.g. *logos…*), which dominated Western philosophy from Plato to the present day, could ultimately be 'deconstructed'. Such deconstruction would show that in each instance difference *precedes* presence rather than the contrary…"[77] Kearney, Richard, ***Dialogues with Contemporary Continental Thinkers: The Phenomenological*** In *Positions,* Derrida writes, "…*différance* refers to the (active and passive) movement that consists in deferring by means of a delay, delegation, reprieve, referral, detour, postponement, reserving. In this sense, *différance* is not proceeded by the originally and invisible unity of a present *possibility that* I could reserve, like an expenditure that I could put off calculatedly, or for the reasons of economy. What defers presence, on the contrary, is the very basis on which presence is announced or desired in what represents it, its sign, its trace…" [8]

Derrida and western metaphysics: Derrida develops this problematic in order to question the system of Western metaphysics as a whole into a question. In his Exergue; or 'outwork' to *Of Grammatology,* Derrida focuses attention on a triple movement of our logocentric epoch: "1. The concept of writing…2. The history of (the only) metaphysics, which has always assigned the origin or truth in general to the *logos:* the history of truth, of the truth of truth, (which) has always been…the debasement of writing and its repression outside 'full speech'. 3. The concept of science or the scientificity of science- what has always been determined as logic."[9]

Derrida and *logos:* In his celebrated works *Positions* and *Of Grammatology*, Derrida has acknowledged overwhelmingly the significant place of the *logos* in his own 'theory of sign' on many occasions. Derrida has said, " The problematic of the sign derives from a fundamental logocentrism, a philosophy of consciousness of the originary subject". The notion of sign occupies the central theme of Derrida's writings. In his analysis of the history of the

notion of sign in *Of Grammatology,* Derrida attempts to show that "…the very concept of the sign has always depended upon, or been determined by that fundamental metaphysical opposition: the sensible and the intelligible. His various treatments of the sign work shows that the metaphysical tradition has always treated the sign as a transition or bridge between these two moments of presence. Because the sign could only function as a provisional reference between presence in the form of the object (the sensible) and the presence in the form of self-presence (the intelligible)…"[10] With the logic of *différance* , Derrida first decenters the *logos,* then he marginalizes the *logos* and finally he rejects the *logos,* "The **sign** unites an independent 'representation' and 'intuition', in other words, a concept (signified) and a sensory perception (**signifier**),"[11] but in logocentric systems, Derrida charges, there is a kind of 'separation' or 'disjoining' which, by dislocating the 'intuition', opens the space and plays off signification.

Derrida, in fact, takes up Kantian project – to show how the atemporally true can be contained in a spatio-temporal vehicle, regularize the relation between man and what man seeks by exhibiting its 'structure', freezing the historical process of successive reinterpretations by exhibiting the structure of all possible interpretation.

Derrida on Writing: On 'writing', Richard Rorty says, "Writing is an unfortunate necessity; what is really wanted is to show, to demonstrate, to point out, to exhibit, to make one's interlocutor stand at gaze before the world. The copy theory of ideas, the spectator theory of knowledge, the notion that '**understanding representation'** is the heart of philosophy, are expressions of this need to substitute an epiphany for a text, to 'see through' representation."[12] Let us consider this passage: "There is therefore good and bad writing: the good and natural is the divine inscription in the heart and the soul; the perverse and artful is technique, exiled in the exteriority of the body. A modification well within the Platonic diagram: writing of the soul and of the body, writing of the interior and of the exterior, writing of conscience and of the passions, as there is a voice of the soul and a voice of the body … The good writing has therefore always been comprehended. Comprehended as that which had to be comprehended: within a nature or a natural law, created or not, but first thought within an eternal presence. Comprehended, therefore within a totality, and enveloped in a volume or a book. The idea of the book is the

idea of a totality, finite or infinite, of the signifier. This totality of the signifier cannot be a totality, unless a totality constituted by the signified pre-exists it, in its ideality. The idea of the book, which always refers to a natural totality, is profoundly alien to the sense of writing…If I distinguish the text from the book, I shall say that the destruction of the book as it is now underway in all domains, denudes the surface of the text."[13]

Derrida on Language and World: What is the relation between the language and the world? Derrida does not come right out: "To this one can only reiterate that Derrida is in the same situation in regard to language that many of us secularists in regard to God. It isn't that we believe in God, or don't believe in God, or have suspended judgement about God. It isn't that we know that God is a cognitively meaningless expression, or that it has a role in a language-game other than the fact stating, or whatever. We just regret the fact that the word is used so much. So is this the case for Derrida with the vocabulary of Kantian philosophy. His attitude towards centuries of worry about the relation between subject and object, representation and the real, is like the Enlightenment attitude toward centuries of worry about the relation between **God, man, faith and reason**."[14]

At the end, we can say that although Derrida has an intense distrust of metaphysics, yet he has made a strong contribution to European identity. For Derrida, the job of philosophy is not to account for a system, but to deconstruct it. In deconstructing the presuppositions of Western philosophy, Derrida offers a serious and constructive counter nomenclature.

Jürgen Habermas: The Institute for Social Research, known as the Frankfurt School has undergone four successive generations since its inception in 1923. The first generation of Critical Theorists include Max Horkheimer (1895-1973), Theodor Adorno (1903-1969), Herbert Marcuse (1898-1979), Walter Benjamin (1892-1940), and others. Since the 1970s, the second generation has been led by Jürgen Habermas who has greatly contributed to fostering the dialogue between the so called "continental" and "analytical" tradition. This phase has also been substantiated by the works of Klaus Günther, Gerhard Brandt, and others. Third generation of critical theorists are Axel Honneth during the fall of the Berlin Wall and the collapse of Socialism during late 1980s. Early in the first decade of the twenty-first century, a fourth generation of critical theory scholars emerged Rainer Forst. I'll be basically dealing with Habermas' contributions.

The range of Habermas' theorizing is extraordinary. He deals with most of the themes developed by earlier critical theorists, including epistemological questions raised by Adorno. In addition, he has sought to achieve a thorough going synthesis of developments in social science and philosophy-including analytical philosophy, the philosophy of science, linguistics, political science and systems theory. In 1969 George Lichtheim, one of the most perceptive commentators on European cultural life, wrote about Habermas, "It is not easy to assess the work of a scholar whose professional competence ex-tends from the logic of science to the sociology of knowledge, by way of Marx, Hegel and the more recondite sources of the European metaphysical tradition... (At) an age when most of his colleagues have painfully established control over one corner of the field, he has made himself master of the whole, in depth and breadth alike. There is no corner-cutting, no facile evasion of difficul-ties or squires enunciation of conclusions unsupported by re-search: whether he is refuting Popper, dissecting the pragmatism of Charles Peirce, delving into the medieval antecedents of Schelling's metaphysics, or bringing Marxist sociology up to date, there is always the same uncanny mastery of the sources, joined to an enviable talent for clarifying intricate logical puzzles. He seems to have been born with a faculty for digesting the toughest kind of material and the refashioning it into order-ly wholes."[15]

Habermas was forty years of age and was already recognized as a leading younger social theorist in post-war Germany. The most striking and impressive feature of Habermas' approach to the range and complexities of human inquiry is the way in which he weaves whatever he analyzes into coherent *whole*. There is a *unity* of vision that informs his work. To this extent he is greatly under the influence of Marx, the young Hegelians, Hegel, Schell-ing, Fichte and Kant. Even before Habermas became fully aware of the Critical Theory of the 1930s, he was recreating the experi-ence and pathway followed by Horkheimer, Adorno, Marcuse and other members of the Frankfurt School. Recalling these intellec-tually formative years, Habermas has written, "In retrospect, I sometimes have the impression that a student can recreate a segment of the critical theory of the 1930s, if he systematically works his way from Kant through Hegel, including Schelling, and approaches Marx via Lukac's."[16]

Habermas' Quest: In *knowledge and Human Interests* (1968 & English edition in 1971), Habermas outlines his first systematic

philosophical exposition. His major theses were succinctly summarized in the inaugural address he gave at Frankfurt University (published as an Appendix to the book). In the Preface, Habermas announced, "I am undertaking a historically oriented attempt to reconstruct the prehistory of modern positivism with the systematic intention of analysing the connections of knowledge and human interest. In following the process of dissolution of epistemology, which has left the philosophy of science in its place, one makes one's way over abandoned stages of reflection. Retreating this path from the perspective that looks back towards the point of departure may help to recover the forgotten experience of reflection. That we disavow reflection is positivism."[17]

Habermas and Positivism: By 1968 the positivist tradition, from August Compte to logical positivist like A.J. Ayer, was already under sever attack. But one can not underestimate the extent to which the positivistic thinking pervaded and dominated the intellectual and cultural life. Habermas, in this context, is speaking of 'posi-tivism' in a broad encompassing manner. He wants to identify that tendency to which many philosophical schools have contributed. This formulation is very close to issues that preoccupied thinker of different philosophical positions. He has advanced a provocative interpretation of a movement of thought that encom-passed Kant, Fichte, Hegel, Marx, Dilthey, Peirce, Nietzsche, Compte and Freud. But I would like to emphasize the point that at the roots of Habermas' philosophical formulation to reconstruct the prehistory of modern positivism, there lies an essentially Kantian paradigm of 'reason'.

Habermas and Kant: Habermas has derived from Kant that 'reason is self-reflective' or 'the self-reflection of reason upon the conditions of its employment'. This is the thrust of Kant's *Critiques* - where 'pure reason' can self-reflexively come to grasp the universal and necessary conditions for the very possibility of theoretical knowledge, i.e., synthetic *apriori* proposition; 'practical reason' can give rise to categorical imperatives and 'judgement' can provide aesthetic judgements. Further the 'critique' is the self-critique of reason where reason is both the subject and the object of critique. This is the emancipatory sense of self-critique and self-reflection. This concept could further be elaborated with the help of Kant's article "Answer to the Question: What is Enlightenment?" The attempt to get rid of 'self-imposed immaturity' is both self-critique and self-reflection with the aim to

attain emancipation. Emancipatory self-reflection is dependent on giving a rational reconstruction of the universal conditions for reason. To use the Kantian analogy, only when we understand the possibility, validi-ty and limit of theoretical knowledge and the categorical impera-tives does it become intelligible to specify what must be done to attain autonomy and emancipation.

The nature and status of human mind divided into three distinct faculties - pure reason, practical reason and judgement - was essentially Kantian and remained Kantian from historical perspective. Post Kantian philosophers especially Hegel has resolved, once and for all, the Kantian distinction.

Habermas and Enlightenment Rationality: Late Dr. Paulos Mar Gregorios, in one of his lectures, has this to say: The basic thing about European enlightenment is an attempt to totally undermine the feudal system and to give a rationale to new bour-geoisie that is where the enlightenment begins. Bourgeoisie was a new class of people comprising of artisans, craftsmen, traders and others, just coming out around the seventeenth century as a result of the economic and social developments. They wanted in the first place to overthrow feudalism and to establish a new philosophical justification for the new class. The class is the new bourgeoisie - the citizens. In doing so, one thing became very clear as a historical fact. The old feudal system was so inte-grally related to the religion and it was very clear that as long as religion and feudal system work together, any attack on feudal system would not work. So in the European enlightenment, it was decided that religion as such should be put out. Even in the French Revolution, there were some people who were 'deists' believing that God started the whole thing, then He went away and everything goes on in accordance with the natural laws, that is, deists. Even Voltaire was like that. But others were strongly convinced that you couldn't defeat feudalism unless you defeat the religion. The best example of that is Heinrich Heinz - the great German poet and writer. He said that in France you are able to beat religion but in Germany we are not because religion is so deeply rooted and unless we defeat this religious entrenchment, we cannot begin our task. This was one side of it. Voltaire was also influenced by this idea that religion was a reactionary force. Nehru himself was partly of the same point of view that religion was an obstacle to progress. If you want progress, not only should you attack religion but also put it aside.

Until enlightenment, the integrating intellectual principle was the belief in God. It was in theology that all human problems in

experience were integrated. Now the enlightenment threw out that integrating principle - the religion as the matrix of thought process. In that place enlightenment put the human reason which could integrate everything. This was the basic change which European enlightenment brought. I myself do not subscribe to that theology as integrating element. But once you subscribe to enlightenment reason, you find that the integrating principle does not fully work. So you divide 'experience' into three compartments - science, ethics and art. In the new enlight-enment thinking, technically it is human reason that reconciles the three. But that integration is very flimsy. It does not have adequate foundation. Immanuel Kant particularly was the one who was trying to distinguish between three kinds of reason-pure reason, practical reason and the judgement. In the one, you know the things (phenomena); in the other, you know how to act; in the third, you have to discern what is good. By making this separa-tion, he held on the 'idea of reason', which was already divided in three compartments. European enlightenment has this problem that 'reason' as such is not able to fulfil the task of integrat-ing everything. But the enlightenment was able to assert on the 'autonomy' and 'adulthood' (maturity). According to the evolu-tionary ideology, which was going through that time, humanity has been developing into three phases; one is the religious stage, the second stage is metaphysics. These two stages are the stages of 'immaturity' of humanity. Humanity becomes 'mature' when its knowledge becomes 'scientific' which is the third stage. Science is the mature form of human dealing with reality. Both religion and metaphysics belong to the 'childhood' of humanity. Maturity means repudiating religion and metaphysics. The positive thing is that it affirms humanity. In the eighteenth century, Immanuel Kant wrote, "What is Enlightenment?" In the pamphlet, he says, 'Enlightenment is the coming of the age of maturity throwing away all that belongs to childhood'. And why is humanity languishing because, it does not have the 'courage' to trust its own 'reason', it is too dependent on religion and metaphysics. So the enlight-enment means that human being has to have the 'courage', to think boldly, to overthrow childishness. It was industrial revolution, which was coming out of feudal relationship and was trying to affirm human autonomy. Individual's dignity, freedom and rights are affirmed in enlightenment reason. If reason has to be criti-cized, it has to be criticized by reason alone. That is what we mean by critical reason.[18]

Habermas and Hegel: Like Kant and Hegel, Habermas takes the split between science, morals and art as the 'fundamental philosophical problem of modernity'. Habermas sees that Hegel "solves the problem of the self-assurance of modernity too well, because the philosophy of Absolute Spirit removes all importance from its own present age ...and deprives of its calling to self-critical renewal."[19] He sees the popularity of 'end of philosophy' thought as an over-reaction to this over-success.

Habermas and the End of Philosophy: Habermas thinks that we need not be restricted as Horkheimer and Adorno were, to mere socio-historical forms of social criticism. He views Horkheimer, Adorno and Foucault as working out new versions of 'the end of philosophy' "...no matter what name it (philosophy) appears now - whether as fundamental ontolo-gy, as critique, as negative dialectic, or genealogy - these pseudonyms are by no means disguises under which the traditional (i.e. Hegelian) form of philosophy lies serves as the drapery of philosophical concepts more likely serves as the cloak, for a scantily concealed of philosophy."[20]

Habermas' account of such 'end of philosophy' movements is offered as part of a more sweeping history of philosophy since Kant. He thinks that Kant was right to split 'reason' up into science, morality and art and that Hegel was right in accepting this as "the standard (*massgeblich*) interpretation of modernity."[21] He also thinks that Hegel was right in believing that "Kant does not perceive the ...formal divisions within culture ...as diremptions. Hence he ignores the need for unifi-cation that emerges with the separations evoked by the principle of subjectivity."[22] It may be recalled that unification was the fundamental philosophical preoccupation for Hegel. In a very remarkable manner in his early fragments entitled *Glauben und wissen*, Hegel has said, "Unification and Being (*sein*) are equiva-lent; the copula 'is' in every proposition expresses a unifica-tion of subject and predicate, in other words, a Being."[23] In the process of unifying the opposites, 'reason', for Hegel, touches every part of reality; 'reason' sublates the finite and its negation, so that they are revealed as moments of a more inclu-sive whole. Habermas agrees with Hegel that there is a 'need for unification'. He wants to go back to Hegel and to start it again. He thinks that, "in order to avoid the disillusionment with the philosophy of subjectivity which produced Nietzsche and the two strands of post Neitzschean thought which he distinguishes and dislikes (the one leading to Foucault, and the other to Heideg-ger)

we need to go back to the place where the young Hegel took the wrong turn; that was the place where he still held open to option of using the idea of uncoerced will formation in a commu-nication community existing under constraints of co-operation as model for the reconciliation of a bifurcated civil society...it was the lack of a sense of rationality as *social* that was missing from the philosophy of subject which the older Hegel exemplified from which the 'end-of-philosophy' thinkers have never really escaped."[24]

Habermas thinks that the philosophical requirement that 'the philosophy of the subject' gratified is as real as it was during Hegel's own time, and can perhaps be fulfilled by his (Habermas') own focus on a 'communicative community'. With Hegel's overemphasis on the *Geist*, philosophy has become 'an isolated monastery/sanctuary' in which an individual forms an isolated order of priests untroubled by how it goes with the world. This position has certainly come from Kant's 'three-sphere' picture of culture which Hegel tries to resolve. On this latter view, Kant's attempt to deny knowledge to make room for faith (by inventing 'transcendental subjectivity' to serve as the function for the Copernican revolution) was provoked by an unne-cessary worry about the spiritual significance or insignificance of modern science, "Like Habermas, Kant thinks that modern sci-ence has a theoretical dynamic, one which can be identified with (at least a portion of) the nature of rationality. Both think that by isolating and exhibiting his dynamic, but distinguishing it from other dynamics (e.g.,) practical reason or the emancipa-tory interest, one can keep the results of science without there-by disenchanting the world. Kant suggested that we need not let our knowledge of the world *qua* matter in motion get in the way of our moral sense. The same suggestion was also made by Hume and Reid, but unlike these pragmatical Scotchmen, Kant thought that he had to back up this suggestion with a story which would di-fferentiate and 'place' the three great spheres into which cul-ture must be divided."[25]

Despite being under the influence of Kantian paradigm, Habermas remains a critical theorist. One of Habermas' most basic and challenging thesis is that "we can not even make sense of the concepts of meaning, understanding and interpretation unless we rationally evaluate the validity claims that are made by participants in these forms of life. We must be able to dis-criminate what participants themselves count as reasons for their actions, and

this requires a performative attitude on our part where we assess what `they' count as good reasons for action with reference to `our' standards of rationality."[26] To illustrate it, we can say that we are essentially embodied beings. We are em-bodied in the family - the property, language and the value systems -, in the tribal community and in the ethnicity. At the sometime, we are able to transcend this infrastructure and bracket all judgements of the validity claims made by partici-pants in a form of life. It is dialectic that lies at the centre of Habermas' critical theory. Habermas says, "A critical social science will not remain satisfied with this. It is concerned with going beyond this goal to determine when theoretical statements grasp invariant regularities of social action as such and when they express ideologically frozen relations of dependence that can in principle be transformed ...thus the level of (non-reflective) consciousness which is one of the initial conditions of such laws, can be transformed. Of course, to this end, a critically mediated knowledge of law cannot through reflection alone render a law itself inoperative but can render it inappli-cable. The methodological framework that determines the meaning of the validity of critical propositions of this category is established by the concept of self-reflection. The latter releas-es the subject from dependence on hypostatized powers. Self-reflection is determined by an emancipatory cognitive interest."[27]

Habermas' critical theory is a dialectical synthesis of the empirical-analytic and the historical - hermeneutic disci-plines. It is a constant cognition and vigilant criticism and this process always goes on and never reaches to any finality. There are also issues and their criticism, further issues and further criticism; but there is no final issue and no final criticism. Habermas' synthesis comes into clear focus when we turn into the third type of cognitive interest: the emancipatory interest: "This interest is at once derivative and the most fundamental cognitive interest. If we reflect upon the forms of knowledge and the disciplines guided by the technical and practi-cal interests, we realize that they contain an internal demand for open, free, non-coercive communication. The validity of knowledge claims in empirical-analytic sciences and the histori-cal hermeneutics disciplines always allow of further testing, challenge and rational evaluation."[28]

Habermas agrees with Kant that there are basic structures, rules and categories that are presupposed by reason (Kant) and communicative rationality (Habermas). But he is skeptical of pure

transcendental philosophy, which can not transcend itself. Haber-mas takes the help from Hegelian dialectic, which can break with the legacy of pure *apriori* transcendental philosophy. It is this synthesis of Kantian *apriori*sm and Hegelian dialectic that has given rise to Habermas' critical theory of communicative rationality. Though the details of Habermas' communicative rationality are subtle, complex and controversial, we can sketch some of its basic features; "Communicative rationality is a distinctive type of social interaction - the type of action oriented to mutual understanding. It must be distinguished from other types of social action and non-social actions, which are oriented to `success', to the efficient achievement of ends. These latter action-types exhibit the form of purposive rational action where we seek to achieve an end or goal by appropriate means."[29] Ha-bermas elucidates "...the goal of coming to an understanding (*Verstanding*) is to bring about an agreement (*Einverstandis*) that terminates in the intersubjective mutuality of reciprocal under-standing, shared knowledge, mutual trust and accord with one another. Agreement is based on recognition of the corresponding validity claims of comprehensibility, truth, truthfulness and rightness."[30] All communicative rationality takes place with two operative terms - consensus and disagreement. Habermas argues that anyone acting communicatively must, in performing a speech action, raise *universal validity* claims, and must suppose that such claims can be vindicated. As indicated in the above quota-tion, there are four types of validity claims - comprehensibili-ty, truth, truthfulness (sincerity) and normative rightness. In most empirical situation, we resolve our conflicts and disagree-ments with these validity claims. But there may arise a situation where validity claims can breakdown or be challenged by one of the participants in the communicative context. To resolve a breakdown in communication, Habermas proposes to have a discourse and argumentation or dialogue where we explicitly seek to warrant the validity claims that have been called into question and replace it with a new model of validity claims, which could be higher, more comprehensive than the earlier one. And that there is no dispute about a validity claim beyond rational argumenta-tion by the participants involved.

To bring the paper to close, we are in a position to bring out the anti-thetical relation between deconstruction and communicative rationality. What Habermas sees as a 'program of action'; Derrida understands it as an 'ideal'. By this we can

understand that communication for Habermas is never wholly one-sided, it involves the necessity of mutual recognition and the procedural mechanism of communicative rationality. While Derrida, in deconstructing the terms, identifies its logocentric roots, thus echoing Heraclitus that if we speak with intelligence, reason, logic, rationality, etc. we must base our strength on that which is common to all (i.e. *logos).* But Habermas' communicative rationality goes ahead of *logos* and proposes dialogue - a process of conversation, argumentation and mutual supplementation of ideas between groups or individuals.

However such a difference can itself be deconstructed, when we consider the normative justification of communicative rationality. To substantiate this point we can take the example of Habermas' roots in Kantian deontological ethics. Both Kant's 'duty for the sake of duty' and Habermas' communicative rationality as a predicate of democratic norms are rooted in reason as the framework of recognition. Habermas' aim is to realize the ideal speech situation, a moment that is described by undistorted communication. Yet elsewhere Habermas himself has recognized the abstract and the other worldliness of such an ideal, couching it in terms of a thought experiment, fictional idealization, "…a methodological fiction in order to obtain a foil against which the substratum of *unavoidable* societal complexity becomes visible. The idea then allows us a model a pure communicative socialization."[31] This view slightly confirms the apprehensions expressed by Derrida in terms of an 'ideal'.

Note and Reference

1 T.W. Adorno & Max Horkheimer. 1972. *Dialectic of Enlightenment.* New York: Herder & Herder. p.xi.

2 Kearney, Richard, *Dialogues with Contemporary Continental Thinkers: The Phenomenological Heritage* (Manchester, Manchester University Press, 1984), p.109.

3 Ibid.,pp.112-113.

4 Derrida, Jacques, *Of Grammatology* trans. Gayatri Chakravorty Spivak (Baltimore, John Hopkins University Poress1978), p. LXV.

5 Derrida, *Positions* trans. Allan Bass (Chicago, University of Chicago Press, 1981) p.57.

6 Wood, David& Beransconi, Robert, *Derrida and difference* (Evaton Northwestern University Press, 1988, p.3.

7. Kearney, Richard, *Dialogues with Contemporary Continental Thinkers: The Phenomenological Heritage,* etc

8 Derrida *Positions* trans. Allan Bass, etc. p.8.

9 Derrida, *Of Grammatology*, etc.p.3.

10 Deborarah Chaffin, "Hegel, Derrida and The Sign" in *Continental Philosophy II, Derrida and Deconstruction,* ed. Hugh J. Silverman (New York, & London, Routledge, 1989), p.77
11 Derrida, *Margins of Philosophy,* trans. by Allan Bass (Chicago: University of Chicago Press, 1982), p. 81.
12 Ibid. , p. 94.
13 Derrida, Jacques, *Of Grammatology,* Trans. Gayatri Chakravorty Spivak, (Baltimore:John Hopkins University Press, 1976), pp. 17-18.
14 Rorty, R., *Consequences of Pragmatism,* (Essays: 1972-1980), pp. 97-98.
15 George Lichtheim, "From Historicism to Marxist Humanism" in *From Marx to Hegel* (New York, 1971), p.175.
16 Jurgen Habermas, "The Dialectic of Rationalization: an Interview with Jurgen Habermas", *Telos*, 49 (Fall, 1981), p. 6.
17 Habermas, *Knowledge and Human Interests* (Boston, 1971) Preface, p. vii.
18 Gregorios, Paulos Mar, "On Humanism, Secularism and Socialism, and On Postmodernism" *Journal of Indian Council of Philosophical Research,* New Delhi, Volume XIV, Number 3, May-August, 1997, pp. 76-78.
19 Habermas, *Paris Lectures* II. p. 28. Quotation from Richard Rorty, "Habermas and Lyotard on Postmodernity" in *Haber-mas and Modernity* (ed) R.J. Bernstein (Polity Press 1985) p. 168.
20 Habermas, *Paris Lectures,* III. p. 3. Quotation from *Habermas and Lyotard on Postmodernity*, etc., p. 166.
21 *Ibid.,* I. p. 17. 22 *Ibid.,* I. p. 17.
23 Hegel, *Theologische Jugendschriften,* p. 383. Translated and quoted by Herbert Marcuse in *Reason and Revolution* , etc. p. 35.
24 Richard Rorty, "Habermas and Lyotard on Postmodernity" in *Habermas and Modernity* (ed.) R.J. Bernstein (Polity Press 1985) p. 167.
25 *Ibid*., p. 168.
26 Ridhard J. Bernstein, *Habermas and Modernity*, etc., Introduc-tion, p. 10.
27 Habermas, *Knowledge and Human Interest,* (Boston, 1971) p. 310.
28 Richard J., Bernstein, *Habermas and Modernity* etc. pp. 10-11.
29 *Ibid*., p. 18.
30 Habermas, "What is Universal Pragmatics? ' in *Communi-cation and the Evaluation of Society* (Boston, 1974), p.3.
31 Habermas, 1996. *Between Facts and Norms.* \Trans. William Rehg. Cambridge, Polity Press. p. 323.

Is Husserl's Phenomenology a Philosophy of Science?*

Dr. Surya Kant Maharana
Assistant Professor
Department of Philosophy
University of Allahabad, Allahabad, U.P.

Introduction

Phenomenology, in the Husserlian sense, happens to be a radical way of doing philosophy, a practice rather than a system. It is a radical, anti-traditional style of philosophizing which attempts to get to the truth of matters. It describes the phenomena, whatever appears in the manner in which it appears, manifests itself to consciousness, to the experiencer. Phenomenology aims to avoid all misconstructions and impositions placed on experience in advance, resulting from religious or cultural traditions, from science itself. Phenomenology believed in reviving live contact with reality. Thus, the slogan of phenomenology was, to 'return back to the life of living human subject'. The purpose of the paper is to examine whether phenomenological philosophy is a kind of Philosophy of Science. In this regard, the paper at first outlines the purpose and notions of philosophy of sciences and secondly brings out its comparison with that of phenomenology is drawn. Finally, it submits that Husserl's version of phenomenology can be understood as a philosophy of science.

Philosophy of Science, with special reference to Popper, Kuhn and Feyerabend, is engaged in knowledge seeking activity. It deals with a cognitive understanding of science. It considers science as a cognitive activity. The purpose of philosophy of science is to study the unchanging aspect of Science, for example, the structure or pattern of a theory. It attempts to get rid of the dogma that all sciences can be reduced to 'Physics' or 'Physicalism'. It undertakes a critique of the idea that science is 'Euro-centric', that is, science is Western origine or peculiar to the West. Further, it undertakes critical evaluation of science in order to understand science in a better way. It seeks to answer questions of value in science, for example, it seeks to answer whether the progress in science is good or bad.[1]

The Notions of Philosophy of Science are Observation, Experiment, Hypothesis, Theory, Law, Explanation, Confirmation,

Footnotes * The paper is presented in the 87th Session of Indian Philosophical Congress 2013, Haridwar.

etc. In philosophy of science, the time-honoured questions of epistemic activity such as truth, objectivity, rationality, meaning, reference and the language of science are brought into focus and responded. Philosophy of science, in contrast with history of science, has acquired iconoclastic character as much as it is central to modernity. History of science has undergone change as it describes fact. Philosophy of science, on the other hand, believes that it has nothing to know about it. According to Hanson and Kuhn, philosophy of science without history of science is blind and history of science without Philosophy of science is empty. Philosophy of science further provides broader picture of what science is. But history of science depends on archeology for date or fact. However, philosophy of science can philosophise without knowing any history of science. It will then be a 'ideal science'. History of science is fact gathering with explanation, whereas philosophy of science is critical evaluation. For history of science, explanation is sui-generous. It searches for 'intelligibility of data'. In this regard, philosophy of science can learn from history of science. In a nut shell, philosophy of science is an 'internalist' understanding of science whereas history of science is that of an 'externalist'. Having this background of philosophy of science in mind, let's see how far phenomenology could be understood as a philosophy of science.[2]

Phenomenology as a Philosophy of Science

The Goal of Phenomenology is quest for certain knowledge. For Husserl, the goal of philosophy is the attainment of certain, indubitable knowledge of the existing world. Phenomenology is the study of phenomena. Phenomena are what appear to us. Phenomenology describes what appears to us in our experience. To Edmund Husserl, the founder of phenomenology as a rigourous science, all embracing problem of phenomenology is to understand the nature of consciousness. Experience provides the platform to understand consciousness. The Constituents of Experience are: the Experiencer (Noesis) and the Experienced (Noema). The relation between the two is explained by 'intentionality'. Consciousness is defined as intentional. By an intentional act, consciousness is directed to some object.[3]

To Husserl, phenomenology is a presuppositionless philosophy. According to this principle, Consciousness to be purified of all assumptions and presuppositions of the so called psychologism and naturalism. Husserl applies a special method, the method of

reduction in order to make phenomenology a presuppositionless philosophy. According to this method, the empirical ego and its natural attitude is put into brackets. Consequently, what appears to us in direct, live experience is encountered. The domain of Pure consciousness or Transcendental Ego is discovered with meanings. Consciousness in a purified state is captured here with live experiences giving rise to the 'Life-world', the world of everyday experiences. Other Subjects of Consciousness is also experienced forming a state called as 'Intersubjectivity'. Pure consciousness is the greatest discovery of phenomenology, the wonder of all wonders as it constitutes the world. Constitution means the world in its entirety derives its meaning from the transcendental ego. The empirical ego may come and go, but the transcendental ego survives the destruction of the world. Husserl concludes that such transcendental pure consciousness with its intentional dimension should be made the foundation of all sciences.[4]

Husserl as a Philosopher of Science undertakes a critique of science in the following way. [5]

- Western culture has lost its true direction and purpose. This is reflected in his title of his last major publication, "*Philosophy and the Crisis of European Man*".[6]
- Husserl identified the crisis of Western man as the obsession with the scientific world-views that took man away from its experiential roots.
- But his spirit is not against science and the achievement of science. Husserl is profoundly impressed by the brilliant success of natural science.
- His criticism is therefore not directed at science as such but rather at the assumptions and methods of the natural sciences.
- Husserl believes that the natural sciences have over the years developed a faulty attitude in Western man regarding what the world is like and how to know it.
- The natural sciences rest upon the fatal prejudice that nature is basically physical and that the realm of spirit or "soul", the realm of knowing, valuing, and judging, in short, the realm of culture, is causally based upon corporeality.
- The possibility of formulating a self-contained science of the spirit is rejected by the natural scientist, and this rejection, says Husserl, explains to a large degree the crisis of modern man.
- The crisis can be overcome by developing philosophy into a rigourous science.

- It can be achieved by the employment of the phenomenological Method

Phenomenology therefore is understood by Husserl as a rigourous science because it can provide foundation to sciences. He suggested that all sciences can be founded upon phenomenology.[7]

Conclusion

Phenomenology can approximate philosophy of science as far as both involve a cognitive activity as well as aim at obtaining the knowledge of the world. Philosophy of science studies the unchanging aspect of Science, e.g., the structure or pattern of a Theory, Phenomenology studies 'consciousness' the unchanging aspect of epistemic enquiry. Both attempt to get rid of the dogma that all sciences can be reduced to 'Physics' or 'Physicalism'. Both undertake a Critical Evaluation of Science in order to understand science in a better way. Notions science, such as observation, etc., may be brought under one umbrella, namely, Experience.

References

1. Kuhn, S. Thomas (1992). The Trouble with the Historical Philosophy of Science, Harvard University, Cambridge.
2. Allen, Sture (Ed.) (1989). Possible Worlds in History of Science in Possible Worlds in Humanities, Arts and Sciences, Proceedings of the Nobel Symposium 65, Berlin: Walter de Gruyter.
3. Husserl, Edmund (1936). The Crisis of European Sciences and Transcendental Phenomenology (Part I & II).
4. Husserliana VI, 1954.
5. Cairns, D (1967) (Ed.)Edmund Husserl, Cartesian Meditations, Nijhoff, the Hague.
6. Gupta, Bina (2002)(Ed.) Explorations in Philosophy, Essays by J.N.Mohanty, Vol. II, Oxford University Press, New Delhi.
7. Sokolowski, R (1964). The Formation of Husserl's Concept of Constitution, Nijhoff, the Hague.

Wittgenstein on Skepticism of External World

Dr. Gopal Sahu
Associate Professor
Department of Philosophy
University of Allahabad, Allahabad

I

Wittgenstein's writings may be cryptic, esoteric and mystical, but skepticism is the last "ism" Wittgenstein would propound and argue for, given his anti-theory stand in general. Yet, his writings, both early and later, are replete with skeptical remarks and passages on skepticism of external world, other minds, solipcism and paradoxical remarks on rule-following. This has aroused some skepticism on Wittgenstein's stand on skepticism in the mind of some Wittgensteinian scholars. Some philosophers have found some traces of skepticism in his writings and some even attributed a Wittgensteinian form of skepticism. This has been the case with Wittgenstein's critique of Moore's refutations of skepticism of external world in his *On Certainty*[1]. While refuting Moore's refutations of skepticism, Wittgenstein has openly supported some forms of epistemological relativism, yet he offers some arguments against skepticism. Therefore, the problem is how to reconcile the contradictory stand of Wittgenstein on skepticism?

This paper would argue that Wittgenstein has mentioned skepticism of the external world in particular and scepticism in general, primarily to show that misuse and improper use of language result in scepticism and secondarily to present as a philosophical strategy to refute it later through different philosophical strategies. The paper concludes that Wittgenstein has discussed skepticism to refute it by showing that it is self-defeating to accept skepticism and to offer a diagnosis of the misconceptions that underlie skeptical doubt. He would first entertain the argument of the skeptic. Develop it to the logical extreme so that every advantage is given to the opponent. Then show how the skeptic's position implies absurd conclusion. The strategy adopted by Wittgenstein is known as the *reductio ad absurdum method* in the philosophical parlance.

In what follows, Section II will present some Wittgenstein's sceptical remarks on external world as presented in *On Certainty*. Section III will discuss how such remarks, at their face value, have misled some philosophers to see a Wittgensteinian skepticism. Section

IV concsiders the Wittgensteinian method particularly the method of *reductio-ad-absurdum*, developed in his later writing to refute skepticism of external world. This strategy can be applied to refute Wittgensteinian other skeptical remarks on other minds, self and paradoxical remarks on rule-following, *ipso facto*.

II

On Certainty is a series of remarks Wittgenstein wrote in his later period on matters related to knowledge, doubt, skepticism, and certainty. *On Certainty* is Wittgenstein's response to G.E. Moore's paper, "A Proof of the External World." In this paper, Moore tries to prove that there is a world external to our senses by holding up his hand and saying "here is a hand", in response to what is called as "skepticism of the external world" – the view that our knowledge of things external to us is unjustified. To Moore, these propositions are indubitable, because he believes that no sensible person under normal circumstances can doubt these propositions. Hence these indubitable propositions provide us with the proofs for the existence of the external world and a reply to the skeptics. It is quite clear that Wittgenstein is not very happy about the proof offered by Moore for proving the existence of the external world. In fact, the very opening sentence of *On Certainty* claims "If you do know that *here is one hand*, we'll grant you all the rest."[2] Wittgenstein admires the boldness of Moore's approach, which implicitly questions the reasonableness of doubting such a claim, but he suggests that Moore fails because his claims that he *knows* he has a hand automatically invites the question of how he knows, a question that would embroil Moore in the sort of skeptical debate he wishes to avoid.

What is wrong with Moore's method according to Wittgenstein was that Moore tried to prove the existence of two hands to those who did not trust his observation. When Moore's skeptic is not willing to grant Moore the status of a trustworthy person, then by assuring the critic or by uttering the words in a firm voice does not help at all. Claiming that one has not made a mistake does not increase the degree of certainty of what is being claimed.[3] Meta-statement about one's knowledge adds no strength to the initial statement. For example, if I know something, then I also know that I know it. But such claims do not add anything to the certainty of my knowledge. Whether I am so must be objectively established. Otherwise, if I claim that I know, it has to be taken as self-evident to every person.[4]

The idea of doubting the existence of a world external to our senses gains a foothold from the fact that any knowledge claim

can be doubted, and every attempt at justification of a knowledge claim can also be doubted. Wittgenstein poses the problem of the external world in the following line. There is no way that one can find out the real nature of things. It is not possible to move from knowledge to the object of knowledge. If there is a possibility of error, there is no way to prove that such an error has not occurred. In order to be sure that there is no error in our knowledge of the world, it needs to be *shown* that no mistake was possible. Giving the assurance "I know" doesn't suffice. For it is after all only an assurance that I can't be making a mistake and it needs to be *objectively* established that I am not making a mistake about *that*.[5] Wittgenstein analyses the term 'know'[6] in the following manner: He considers "I know" and "I see" are comparable. Both express the relation between the knower and the known. It speaks of the relation between the knower and the fact.[7] And there does not seem to be a mechanism to move from the knower to the known. No amount of ensuring whether one has satisfied all the correctness conditions of the picture of the world would give us the correct picture of the world. How the world is projected in language cannot be described. But one can imagine how it is done, and the picture of this imagination can be described according to Wittgenstein. One could judge this picture on the basis of the mythology that one accepts.[8] Wittgenstein adds further by saying that this would give us a picture of knowing as the perception of an outer event through visual rays which project it as it is into eyes and the consciousness. Only then the question at once arise whether one can be *certain* of this projection. And this picture does indeed show how our *imagination* presents knowledge, but not what lies at the bottom of this presentation.[9] But accepting a perspective of how the language and reality are related and jumping from the knowledge to the fact would be self-defeating, since we do not have an independent way of knowing the fact then.

III

Wittgenstein's method of addressing the skeptical issues is unique. He would first entertain the argument of the skeptic. Develop it to the logical extreme so that every advantage is given to the opponent. Then show how the skeptic's position implies absurd conclusion. The strategy adopted by Wittgenstein is known as the *reductio-ad-absurdum method* in the philosophicalparlance. Wittgenstein developed this insight in *On Certainty*. This is a logical insight that it is bound up with the many philosophical tools, conceptual distinctions developed in his later writings for philosophization.

In the case of the proof for the external world, Wittgenstein shows that it is not possible to prove that here is a hand using any sense perception, for the one who is questioning this doubt against sense perception cannot be made to be pleased by another sense perception. Thus, the very attempt made by Moore to prove the object of an external world by showing his hand is absurd from this angle. If senses are not trusted, it is absurd to say that they give valid knowledge.

Wittgenstein has variously been held to refute skepticism by showing that it is self-defeating to reveal the truth in skepticism and to offer an accommodation with it and to diagnose the misconceptions that underlie skeptical doubt. In the case of the proof for the external world, Wittgenstein shows that it is not possible to prove that here is a hand using any sense perception, for the one who is questioning this doubt against sense perception cannot be made to be pleased by another sense perception. Thus, the very attempt made by Moore to prove the object of an external world by showing his hand is absurd from this angle. If senses are not trusted, it is absurd to say that they give valid knowledge.

Existence of a physical object cannot be proved, but one could instruct what "A" means, or what "physical object" means[10] Wittgenstein claims that the term "physical object" is a logical one like colour, quantity. In speaking about a physical object one could speak of colour of the object; one could speak of other attributes of the object, but not of a physical object in general. "Physical object" is not an object, it is a concept. When we use the expression "physical object" we do not have any particular object in mind and hence it cannot refer to any object. Therefore, one cannot say, there are physical objects. If ever we use such sentences, then the meaning of the word "physical object" would be almost the same as a "thing" and instead of our asserting that there are many things we call them physical objects. One could not speak of physical objects in the manner in which Moore spoke of two hands to prove there are physical objects.

After having shown that one cannot prove that there are physical objects in this fashion, he asks whether there are any grounds for disbelief. He writes, "But what about such a proposition as "I know I have a brain"? Can I doubt it? Grounds for *doubt* are lacking! Everything speaks in its favour, nothing against it. Nevertheless it is imaginable that my skull should turn out empty when it was operated on."[11]

Claiming that someone knows something has only significance to those people who take the person to be trustworthy. In such contexts, the person who claims that he knows has made only one point that the person in question has made sure that he has not committed a mistake. Others would believe in the authority under the assumption that it is possible for the person in question to make sure. But those who doubt the existence of any physical objects makes no such provision for making sure of the existence of any physical object.[12]

And "I know that there's a sick man lying here", used in an *unsuitable* situation, seems not to be nonsense but rather seems matter-of-course, only because one can fairly easily imagine a situation to fit it, and one thinks that the words "I know that..." are always in place where there is no doubt, and hence even where the expression of doubt would be unintelligible.[13] The statement "I know that here is a hand" may then be continued: "for it's *my* hand that I'm looking at". Then a reasonable man will not doubt that I know.[14] The propositions presenting what Moore '*knows*' are all of such a kind that it is difficult to imagine *why* anyone should believe the contrary says Wittgenstein. For example, the proposition that Moore has spent his whole life in close proximity to the earth. Everything that one has seen or heard gives us the conviction that no man has ever been far from the earth. Nothing in my account of the world speaks in favour of the opposite.[15]

Wittgenstein clarifies "There is no subjective sureness that I know something. The certainty is subjective, but not the knowledge. So if I say 'I know that I have two hands', and that is not supposed to express just my subjective certainty, I must be able to satisfy myself that I am right. But I can't do that, for my having two hands is not less certain before I have looked at them than afterwards. But I could say, " 'That I have two hands is an irreversible belief.' That would express the fact that I am not ready to let anything count as a disproof of this proposition."[16] That is the reason why I am certain about it and my perspective is true to me. Speaking on the foundation of certain beliefs, especially the one that there are two hands here, Wittgenstein says that we proceed according to this belief unconditionally and not let anything confuse me, and every reasonable person does that. He remarks "At the foundation of well-founded belief lies belief that is not founded."[17]

Doubting is not a normal thing Wittgenstein points out. How does one doubt that one had no parents? This doubt does not

seem to naturally arise. Has anyone taught me that I had no parents? he asks. How can a child doubt immediately what it is being taught? If no one has taught me that it is not conceivable that I will have such a doubt.[18] If a child doubts something immediately after it is taught, it only means that the child is incapable of learning certain language-games.

IV

Wittgenstein does not try to refute skeptical doubts about the existence of an external world so much as he tries to sidestep them, showing that the doubts themselves do not do the work they are meant to do. By suggesting that certain fundamental propositions are logical in nature, Wittgenstein gives them a structural role in language: they define how language, and hence thought, works. "Here is a hand" is an ostensive definition, meaning that it defines the word by showing an example. That statement explains how the word *hand* is to be used rather than making an empirical claim about the presence of a hand. If we begin to doubt these sorts of propositions, then the whole structure of language, and hence thought, comes apart. If two people disagree over whether one of them has a hand, it is unclear whether they can agree on anything that might act as a common ground on which they can debate the matter. Communication and rational thought are only possible between people when there is some sort of common ground, and when one doubts such fundamental propositions as "here is a hand," that common ground shrinks to nothing. Skeptical doubts purport to take place within a framework of rational debate, but by doubting too much, they undermine rationality itself, and so undermine the very basis for doubt.

Behind Wittgenstein's belief that "here is a hand" is an odd proposition, either to assert or to doubt, lies his insistence on the importance of context. The very idea of doubting the existence of the external world is a very philosophical activity. A philosopher can doubt away, but it is impossible to live out this sort of skepticism. In essence, skepticism only has a foothold when we abstract it from the activity of everyday life. Similarly, skepticism gains its foothold by doubting propositions like "here is a hand" when these propositions are abstracted from the activity of everyday life. According to Wittgenstein, a proposition has no meaning unless it is placed within a particular context. "Here is a hand," by itself, means nothing, though those words might come to have meaning in the context of an anatomy class or of a parent teaching a child

to speak. However, once we give propositions a particular context, the doubts cast by a skeptic lack the kind of generality that would throw the very existence of the external world into doubt. Only by removing language from all possible contexts, and hence rendering language useless, can skepticism function.

We do not test everything and that does not seem to be possible either. Speaking about the testing of only those things which we doubt and not everything, Wittgenstein writes: "We check the story of Napoleon, but not whether all the reports about him are based on sense-deception, forgery and the like. For whenever we test anything, we are already presupposing something that is not tested. Now am I to say that the experiment which perhaps I make in order to test the truth of a proposition presupposes the truth of the proposition that the apparatus I believe I see is really there (and the like)?"[19]

Another frequently used expression in Wittgenstein is '... comes to an end' used for justifying our knowledge. He speaks of justification, explanation, reasons, doubts coming to an end. This is quite characteristic of Wittgenstein that he does not permit us to go on *ad infinitum* when these processes begin. He gives us the impression that we begin these processes somewhere and we need to end it somewhere. This does not seem to be an isolated incident that Wittgenstein thinks that we have to leave all these processes incomplete. It is not simply the rules lead to skepticism due to their failures, they are not justified further, *viz.,* nothing seems to be justified eventually. We have several passages that indicate such a skeptical attitude. Remarking on the justification from experience, arguing from past to future Wittgenstein says, "Justification by experience comes to an end. If it did not it would not be justification."[20] Speaking of explanation of the meaning of terms, he remarks "Explanations come to an end somewhere."[21] And speaking of the process of justification he writes "If I have exhausted the justifications I have reached bed-rock, and my spade is turned."[22] He remarks on our foundation of belief by saying "At the foundation of well-founded belief lies belief that is not founded."[23] He adds further the act of "Giving grounds, however, justifying the evidence, comes to an end."[24]

But the remarks are totally misunderstood if we do not consider what Wittgenstein has in mind. The act of justifying is used to facilitate our understanding, if the justification does not come to an end, which would only amount to saying that understanding

never takes place. If such a state of affairs is to prevail, then there is no point in trying to justify anything.

The act of justifying is something that we do withinlanguage. Wittgenstein is of the opinion that we use rules for justifying judgements, i.e., the application of the rules to the context. But rules themselves are not justifiable further. That is the reason why Wittgenstein says that if we have exhausted all justifications then we are inclined to say: "This is simply what I do."[25] The act of justifying comes to an end because we cannot infinitely continue to justify one rule in terms of another. We have to terminate this act of justifying by action or by simply indicating what we do, i.e., speak about our convention.[26]

Notes and References

1. Wittgenstein, L., *On Certainty* (hence forth *OC)* (ed.), G. E. M. Anscombe, Basil Blackwell, Oxford, 1969.
2. *OC*, §1.
3. *OC*, §15.
4. *OC*, §16.
5. *OC*, §15.
6. Wittgenstein, L., *Philosophical Investigation*, (hence forth *PI*) (ed.), G. E. M. Anscombe, Basil Blackwell, Oxford, 1963. *PI*, §149.
7. *OC*, §90.
8. *OC*, §95.
9. *OC*, §90.
10. *OC*, §54.
11. *OC*, §4.
12. *OC*, §23.
13. *OC*, §10.
14. *OC*, §19.
15. *OC*, §93.
16. *OC*, § 245. Anthony Kenny in his book *The Wittgenstein Reader* (hence forth *WR*), Basil Blackwell, Oxford, 1994, has compiled Wittgenstein 's works thematically and has provided a handy reference book on Wittgenstein. Also see WR 257.
17. *OC*, § 253. Also see *WR,* p. 257.
18. *OC*, § 282. Also see *WR,* p. 259.
19. *OC*, §163. Also see *WR,* p. 252.
20. *PI*, §485.
21. *PI*, §1.
22. *PI*, §217. Also see *WR,* p. 102.
23. *OC*, §253. Also see *WR,* p. 257.
24. *WR,* p. 254.
25. *PI*, §217. Also see *WR,* p. 102.
26.*PI*, §326. Also see *WR,* p. 113.

Dharma : Ideal and Praxis in the Emerging Global Scenario

Professor H. S. Upadhyaya
Department of Philosophy
University of Allahabad, Allahabad

The emerging global scenario is an outcome of scientific achievements like, computerization and revolution in the field of information technology; Indeed globalizalion is an economic concept based on market, profit, competition and commercialisation. In order to cultivate a global culture, active participation of people, (all Men Women and Youths) from all cultures and communities, would be the need of lime. Therefore a culture of peace, harmony and justice is required for healthy atmosphere of globalizing society.

What we call today global culture is a blend of several cultures or in a word a 'rainbow culture'. The process of globalisation is an attempt to synthesize various cultures on some common moral grounds with preservation of cultural identities of various communities. However, we observe that globalising society is adopting several-customs, worships, music, dance, dress-codes, beliefs, architecture, paintings pantheon and the like from different communities of the world. Thus the emerging global scenario has opened the pathways for meeting of various cultures. The process of globalisation has put the question mark before the famous lines composed by Rudyard kipling1 that

The East is East, and the West in west.

"And the twain shall never meet."

Rudyard kipling was skeptical, when he wrote above lines about meeting of two mighty and different cultures. But various cultures are merging in the ocean of globalisation including Indian and Western philosophies and cultures. Even comparative study of Indian/Eastern and Western philosophies and the cultural relations have also paved the way of globalisation. The success of emerging globalisation will depend on preservation of various cultural identities. It is the need of time to develop a world perspective on professional ethics as well as to accord equal respect to various cultures.

The use of science and technology as the pursuit of power and material achievement have changed the life-style of people and faces of global economy. The rates of various commodities are being determined by capital market and corporate world. Since the

market forces have captured political economy, the gap between rich and poor is widening, which will cause socio-economic and political unrest.

Humanity has witnessed that as a consequence of exploitation, organized violence (terrorism), economic-disparity, injustice and slavery several wars happened in the past. Despite great battles and assassination of thousands of people, problems of human race could not be solved. The wars and terrorist activities in the various parts of the world have failed to solve problem of human race, rather they have caused unrest by assassination of many innocent people. Due to effect of globalisation and information technology, spatiotemporal distance have been shrinked, but it has also decreased sensibility, emotional attachments among people and moral commitment towards principles. Pursuit of power, enjoyment, consumerism and short-cut methods to get success in life are being enhanced in many fold. It is needless to say that power, enjoyment and consumption are neither dangerous nor-immoral in themselves, rather it is power wielded for sake of power, enjoyment for the sake of enjoyment and consumption for the sake of consumption in extreme are dangerous. Therefore, achievements of techno-scientific society must not be taken as ends and ideals in themselves, rather they are to be treated as means to obtain higher ends, values and ideals under the umbrella of Dharma.

The word Dharma has been use in various senses by different people and hence it appears to be ambiguous. The ambiguity of the word is due to enhanced meaning that is attached to the word from time to time. Indeed, the use of Dharma is later concept in the vedic literature. There, we find the concept of Rita, which was used for moral order. It has been conceived that both the concepts Dharma and Rita are interrelated with some bindings. The binding may be either at natural level or at social and moral level. Without some bindings it would not be possible to hold various elements together.[2]

M. Hiriyanna[3] has pointed out that there are three views regarding dharma, in the Indian philosophy, (i) Mimanskas have taken dharma in the sense of action or karma, (ii) The followers of Nyay-Vaiseshika have used it as a quality characterizing the self, (iii) Theistic schools have used dharma neither as an action, nor as a quality, but rather as the Grace (Prasad) of God. However, he is of the view that the moral idea in the Indian view of life is based on Karma-doctrine, i.e. Dharma has to be taken in terms of karma (action). It makes a karma virtuous.

In the Indian literature dharma has not been used only as a simple virtue, rather it is the core of all virtues. It has also been used as the highest standard of values by which we have to judge our actions. The world bereft of dharma would be worthless. Even Supreme Being (God) has been treated as the custodian of dharma. God has to incarnate Himself age to age as saviour of saintly men and to destroy the wicked and strengthen the dharma[4]. Indian seers believed that the whole world is pervaded by God (Isavasyam Idam Sarvam) as is governor and controller. Let us enjoy this valuable world. It is natural for human beings to seek enjoyment; but it must not be enjoyed simply for sake of enjoyment (Bhoga), rather it ought to be enjoyed by tyaga, i.e. enjoyment with detachment. We have to enjoy this world with an attitude of renunciation. For what we posses does not belong to us. We should not-crave for what belongs to others.[5] These teachings provide meaning to human life and thereby they are to be taken as guiding principles of globalising society.

The notion of Dharma has been used in two different senses in the Indian culture: In the first sense, it is used what is set down in the sacred texts dealing with Sanatan Dharma or customary law. In this sense it stands for what we call 'canon taw'. From this point of view, 'Dharma' stands for 'religion' in its connotation and sometimes it is translated as religion in practice. The practical human life is covered by 'dharma' and in this sense, religious life and ethical behaviour of people are inseparable. What was prescribed by religious code also became moral code and was identified with legal code. Thus in the Indian system the 'Sanatan Dharma' became subservient to both religion and law.

In the second sense, the notion of dharma is of universal nature. It stands for good of people as well as the inner and outer controlling drive of all human beings. That is to say dharma as an ideal is the dynamic force and the driving power of the Universe. Even the enjoyment of 'Artha' (weallh) and 'Kama' (all worldly desires including sexual aspiration) are to be determined by the dharma; that is laid down by wise sages. The stability of the universe depends upon dharma. In this way in order of Trivarg dharma' is the foremost of all, 'Artha' (wealth) is to be middling and Kama is said to be the lowest of the three.[6] Similarly, Manu has pointed out that the welfare of humanity lies in harmonious management of the trivarg i.e. the trinity of the three.[7] Kautilya has also given an account of duties and obligations of Varnashram Vyawastha. It is the duty of a king to look into obedience of rule of

law by his subjects to make them obligatory. There are certain duties and obligations of universal nature as part of various aspects and dimensions of dharma. They are obligatory for every human being without reference to any particular cultural system of any society. Thus, these duties and obligations are common to all human beings.[8]

There are ten characteristics of Dharma laid down by Manu. He has given an account of ten virtues as characteristics of Dharma, which are under mentioned: Steadiness or patience (Dhritih), forgiveness (Kshama), self-control (Dam), to avoid belongings of others i.e. theft (steyam), Purity or piousness (Saucham), control on sense-organs (Indriyanigrah), correct discernment (Dhih), truthfulness (Satyam) and absence of anger (Akrodha). These virtues as characteristics of dharma have been treated as obligations of universal nature. They are obligatory to every human being without any reference to class, creed, caste and Varnasram.[9]

Dharma in the sense of a moral obligation does not merely accept traditions and customs, rather it goes beyond them and creates new traditions. It arises on account of selection and preference. It becomes 'Sat', i.e., 'being' or 'existence' with preference of goodness and hence we obtain the concept of good (shubha). The existence in the light of enlightenment, i.e. existence with enlightenment would be better than existing in darkness. This is why dharma, in the Indian tradition, has been used as 'Virtue or Sadguna'. It stands not just for bare existence, rather it means '*Asto ma Sadgamaya*', '*Tamso ma Jyotirganiaya*'. It is universalized as '*Mrityorma amritam gamayati*'.[10] It compares death and transient life with immortality and eternity. Its objective would be to achieve eternity.

This is needless to say that Indian culture is conglomeration of diversities of communities, tribes, customs, morality and races which are preserved under the umbrella of dharma. Sometimes the trivial customs are assumed as form of moral thinking and aptitude. In due course of lime, the old and outdated traditions and, customs are given up, and new traditions and moral norms are introduced. Thus dharma seems to be the orbit and the conscience keeper of the world that governs the right functions and management of relations between man and social organisations. It is the holder of the balance in terms of which Artha and Kama are to be practiced. In this sense dharma is too wide in its application. It is identified not only with a group and community, nor only with society, nor with only nation, nor only with human race,

language, custom etc, but it also holds the whole creation and universe. It includes all these things and it is still much more than all these which are governed by it. It preserves all that is created and hence it is the principle which preserves and governs the universe. This is why it is so called, i.e. 'Dharanad Dharma' ityahurdharmo dharyate prajah.[11]

The above discourse on the notion of dharma shows that it is different from the concept of 'religion' which is practiced in the sematic religions. It stands for different elements, virtues and values which are held together to make harmony, unity in plurality and good of socio-political and economic order. Thu the dharma plays a vital role in domain of religion ethics of law.

Some thinkers have compared the notion of Dharma to the Kantian 'Good Will' and the categorical imperative. The Kantiam categorical imperative is a maxim that is universalized and rationalised by a rational being, i.e., so act as to make thy law universal.[12] But there have been made a minute distinction between the categorical imperative and the concept of dharma. The use of dharma in Indian tradition as duty and obligation is not simply related to only doing, but rather 'being'. The dharma as categorical imperative denotes 'Be' which means become an instrument of the universal law of divine (God). That is to say, so become that the universal law acts through you.[13] The custodian of dharma is 'God Himself. In the Mahabluiratn the Lord Vishanu (God) Himself has been addressed as *Dharmadhyaksh*, by Bhism.[14]

In the vedantic literature various forms of virtues are prescribed as categorical imperative or dharma. According to Brihadarankopanisad[15] (वृहदारण्यकोपनिषद) Prajapati gave preaching of triple 'Da' (दा) to gods, human beings and asuras. For gods 'Da' (oe) means daman (दमन) i.e., to control sensual pleasures, tor humans 'Da' means dan or donation. Geed of man increases, when one collects too much money and greed is the door way to hell. After humans, asuras were preached 'Da' (दा) as well. For them 'Da' (दा) means Daya or Karuna i.e.', compassion. Later on the compassion was treated as the root of Dharma.[16] Thus, compassion has been taken as logical presupposition Kashma (forgiveness), Ahimsa (Nonviolence) and Peace. Non-violence (अहिंसा) has been treated as the highest form of Dharma.[17] (अहिंसा परमो धर्मः) However, the non-violence must be founded on compassion and not merely as a compulsion. It (non-violence) has three dimensions: non injury in speech, thought and action."[18]

There is an organic relation between the doctrine of truth and non-violence. Both truth and non-violence are inseparable and they are integral constituents of Dharma. In the Twentieth Century the complete philosophy of non-violence was practiced by Mahatma Gandhi.[19] He conceived non-violence as core of all values and virtues. The other values and virtues are valuable because they are derived from non-violence based on compassion.

Unlike other religious leaders like Buddha, Mahabira, Shankaracharya, Jesus Christ and others, Gandhiji applied non-violence as supreme dharma not only to spiritual and religious spheres, but also practiced it in the socio-economic and political spheres of life that is the need of emerging global scenario.

The prevention of poverty, unemployment, illiteracy and protection of human rights are significant, But if scientific techniques and instruments are used to enrich life, growth and development of those who already have enough, it would be a futile exercise and waste of efforts, as they would not contribute to the largest interest of society. We must not forget that a society without compassion, renunciations/ love, delight and goodness for people in masses cannot lead to harmony and peace. The science and technology as pursuit of power must not obtrude upon spheres of dharma and values. The healthy globalizing society would require a balance between material achievements and moral values (ideals). Unfortunately, almost, in every age of history, the governments and its key positions of power have fallen into hands of unwise, cruel and economically rich persons who were devoid of moral dignity. In the age of dangerous atomic weapons, meance of violent terrorism and economic disparity, philosophers, political thinkers, saints and academicians must come forward to build a world having liberty, fraternity and justice, so that moral dignity, social harmony, peace and progress can be ensured. The development and growth would have relevance in accordance with advancement in charity, generosity, equality and compassion for just and peaceful social order.

Almost in every age of culture greater respect is bestowed on saints and seers than others in society. However, it would not mean that peaceful and happy life depends only on sainthood. For emerging global society various kinds of needs are to be catered and various kinds of contributions are to be made in different areas. It is quite possible to lead a moral and dignified life as a poet, as a philosopher, as a scientist, as a politician and social reformer. It is

expected that they should contribute their bits for well being of society. It is true that non-violence based on compassion, detachment, disinterestedness and the like are certainly higher Virtues required for global harmony. These virtues and values are manifestations of Dharma which cannot be practiced in vacuity. This is why, Gita says that 'Yoga is to attain skill n: action'. (योगः कर्मसु कौशलम्).[20] We have to perform our duties for social welfare.21 By Virtue of this, scientific advancement without protection of human rights and sense of moral values, gloablising society would go downwards causing social unrest. Philosophers and statesmen across the world made their contributions to preserve dharma in the various forms of duties and obligations by sacrificing their own interests. In this regard, contributions of Buddha, Mahabira, Shamkaracharya, Kautilya, Martin Luther, Hazrat Mohammad, Jesus Christ, Swami Vivekanand, Tilak, Mahatma Gandhi and many more are significant. Practice of non-voilence, non-attachment for self-interest, charity (oeve) forgiveness, compassion, courage, cultivation of the good and 'disinterested will' would be logical presupposition of peaceful co-exislince in globalising society. This is why the Indian seers, pray, "let the mind be guided by disinterested and auspicious will - power of the Divine"[22] and 'noble thoughts and ideas come to us from all around the world"[23]. This is what Mahatma Gandhi wrote, "I do not want my house to be walled in on all sides and any windows to be stuffed. I want the ' cultures of all lands to be blown about my house as freely as possible. But I refuse to be blown of my feet by any."[24] The same ideals and virtues were preached and practiced by Indian seers and our ancestors in the mission of 'Vashudhawa Kutumbakam', (the whole world as a family). It reflects the global perspective in promoting peace, harmony, love and cooperation. The notion of family is based on mutuals cooperation, compassion, love and forgiveness to each other, in place of competition, struggle, commercialization and exploitation. The narrow minded people fulfill their own interests, but, for the generous and morally enlightened people the world is treated just as a big family.[25]

The application of Dharma would be an obligatory and moral force by promoting professional ethics to bring peace and harmony for globalizing society. The emerging techno-scientific society must realize that a human being cannot be conceived and confined to only reason, science and technology. It is a balanced amalgamation of mind, body, heart and soul as integral parts of

consciousnesses. In this regard, dharma is meant, as a dynamic force and state of affairs based on a universalized impulse and hence to be accepted by all. It is not confined only to individual's private life, but also becomes subservient to public life. It must be utilized and practiced as a code of conduct of what we ought to do towards others in a globalizing society. Thus the ideal of dharma is to bring entire humanity under the banner of one global family based on love and mutual co-operation in place of global market based on business, profit and competition. The mission of Indian philosophy for globalizing world is that mutual cooperation and augmentation among people would be the logical presupposition of peaceful and healthy existence of globalising society as gita says. *Parasparam Bhavayantah Sreyah Paramavapsysatha*[26] परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ।

Note and References

1. Perenials of comparative Philosophy, (Ed. S.L. Pandey), Allahabad Philosophical Series No. 9, 1988, p.3. Rudyard kipling worked as a journalist at Allahabad who witnenessed the meeting of the two might Indian and Western cultures at Allahabad.
2. Barlingay, S. S., A modern Introduction to Indian Ethics, Penman Publishers, Shaktinagar, Delhi, 1988, pp. 132-137.
3. Hiriyanna, M, Indian Conception of Values, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1975, pp. 159-167
4. Gita IV/7-8, (Adgadanand Pramhans Swami, Yatharth Geeta, Shree Paramhans Ashram Trust, Girgaum Chowpaty, Mumbai 1998, pp.128-130.
5. Ishopanishad (Verse I, 2) (See also Wisdom of Ancient Rishis, Sadhu Bhadresdas, translated in English by Sadhu Prama Vivek Das, Swaminarayan Aksharpeeth, Ahemdabad, 2012, pp. 16-17).
6. Mahabharat, Shantiparva, 167/6-9.
7. Prabhu, P.H., Hindu Social Organisation, Popular Prakashan, Bombay, Sixth reprint. (1979), p. 81 (See also Manusmrit 11/24)
8. Arthashastra of Kautilya, I/III/84, (Ed.) Sri Vachaspati Gairola, Choukhamba, Vidya Bhawan, Varanasi, 1962.
9. Manusmriti, VI/91 (quoted by P.H. Prabhu in Hindu Social Organisation, p.92.)
10. Brihadaranyak Upanisad 1/3/28.
11. Mahabharat, Shantiparva, 109/11.
12. Radhakrishanan, S., Philosophy : East and West, Vol. II, No. I (W.T. Stace, has mentioned in one of his articles in April 1952), See also Nikam, N.A., Some Concepts of Indian Culture, pp. 27-28.
13. Nikam, N.A., Some concepts of Indian culture, pp. 27-28.

14. Mahabharat, Anushasan Parva, Vishnu Sahasranama, Verse 28, 56.
15. Brihadaranyakopanisad, 5/1/1-3.
16. Daya Dharma ko Mula Hai Papa Mula Abhiman.
    Tulsi Daya na Chhariye jab lai ghat mein prana.
    दयाधरम को मूल है पाप मूल अभिमान।
    तुसी दया न छाँड़िये जब लौं घट में प्रान।।
    (Quoted by Mahatma Gandhi in Hind Swaraj, translated by Amrit Lal Thakordas Nanawati, Kasturba Gandhi Kendra, Allahabad, p.59.)
17. Ahimsa parmo dharmastathahinsa ramamtapah.
    Ahimsa parmamsatyam yalo dharmah pravartate
    अहिंसा परमोधर्मस्तथाहिंसा परमम् तपः।
    अहिंसा परम् सत्यम् यतो धर्मः प्रवर्तते।।
18. Nikam, N. A., opcit. p. 40.
19. Mishra, R.P., (Ed.) Anasaktidarsan, ICGSPR, New Delhi, Vol V, No, I, (Jan-June), 2009, pp. 51-52.
20. Gita II/50
21. Gita III/20, [(लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि) loksangrahamevapi sampasyan kartumarhasi] The karma (action) is to be performed for betterment and walfare of mankind.
22. Tanmein Manah Shiv Samkalpmastu (तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु), Shivasankalp Suktam in the Atharvaveda and also in Rigveda Vers 1-6.
23. A no bhadrah Krotvoyanta Vishvatoatabdhaso aparitasoud- bhidah (आनो भद्राः क्रतवोयन्तु विश्वतोऽब्धासो अपरीतासोद्भिदः) Rigveda Samhita Part I, 89/96.
24. Mishra, R.P. op.cit.
25. Ayam nijah paroveti ganana laghuchetsam
    Udarcharitanam tu Vasudhaiva kutumbakam.
    अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम् ।
    उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।
26. Gita III/11

Search for a better world: Liberalism and its limitation- A Buddhist response

Dr. Rajni Srivastava
Assistent Professor
Department of Philosophy
University of Lucknow, Lucknow

One of the major challenge before the world is to learn to live together, with peace, co-operation and understanding. We all have to live in this world so we need to make this world that would be free from exploitation, violence and conflicts and this can provide an infrastructure for United Nations millennium goal. Liberalism has tried to make effort in this direction through its political ideal of liberty, equality and fraternity and it has tried to implement these ideals through a particular set up that is democratic government which claims to ensure fundamental rights for all its citizens. So on the one hand it tries to ensure fundamental rights for citizen and on the other hand it tries to harmonies difference through the policy of toleration which demands neutrality of state regarding diverse and conflicting life styles of the people. It is true that liberalism has led the world some steps forward in this direction, but it is also true that because of its own complexities, it cannot work after a certain extent. Growing trend of violence, conflicts, and intolerance creates suspicion and confusion over liberal philosophy and as liberalism is an unparallel champion in this political sphere. So it cannot escape from its responsibility. The major cause for discomfort dissatisfaction of this world is lack of space, lack of resources, deprivation and exploitation. Liberalism claimed justice for all, autonomy and respect for all but the promises are not completely fulfilled. It is because of limitation of the liberalism.

This paper is an inquiry in this direction that what are the limitations of liberalism and how for Buddhism can supplement it. Here two questions are very important:

(1) Whether these problems are essentially related with liberalism?
(2) These are the problems of this world but liberalism does not have nail to catch it?

In the first case it demands immediate effort for alternative theory of political sphere but in the second case it demands supplementary theory to handle these problems along with liberalism. But before in investigating in this direction it is important to find out the fundamental beliefs on which theory of liberalism has been built.

There are three basic assumptions of liberalism:

1. Individualism
2. Belief in the rational capacity of human being
3. Universality

1. Individualism claims that individual is the basic unit of the society. He is perceived as existent prior to society. He has his own independent and society is mere aggregation of the individuals but if individual is an independent and separate with others then a genuine question arises why he should live in a community? Why he should have relation with others? Why he should work for social welfare? Unless he has some wasted interest in it. "Liberalism treats the individual as prior to society as an historical being or philosophical concept. Many liberal assert that society is not more than the sum totals of its members whose rights or interests its institutions are properly concerned to protect."[1]And "Social and political relationship for liberal are artificial"[2] constructed for specific purpose. This is the reason individualistic theories are mainly concerned for securing individual rights and liberties. But this perception of human being threatens the natural bonding among human being. Liberalism is highly individualistic in characters. "Hobbes and Locke begin their theories from individuals existing in pre political and pre social state of nature."[3] Though new liberalism does not believe in atomic individualism yet its basic thesis has not been changed. As Rawls in this book A Theory of Justice conceives person 'as an autonomous moral person who is an equal citizen of well ordered society'.[4] To whom not only co-operation is possible but also essential, but still he has doubt on the decision of person who is a member of a society, so he conceived his theory of social justice independently of the community of which they are part as he asks us to imagine individual in original position an abstract situation where one is independents from any of the particular specification of himself and his social relation. Too much emphasis on individuality endangered the possibility of shared consensus. "Though it is true that liberalism now acknowledges individuals as well as collectives also in its political debate."[5] But it cannot do it without compromising its fundamental supposition.

2. Belief in the rational capacity of human being Liberalism has strong commitment for the capacity of rationality. It believes that rationality in the essential feature of human being and it is the only capacity which distinguishes human being from animal being. But liberals differ on the natures of reason, some have a

Kantian conception, some believe in utilitarian conception; others have a rational choice conception. Rawls's political liberalism relies on a conception of reasonable that is deliberately meant to provide a certain measure of substantive neutrality toward competing political views. The concept of rationality does not itself provide a normative standard. It does not tell how a man should behave with others. It gives decision and direction to individuals and institution. It should also he noted that though liberalism believes that everyone has capacity for rationality but this capacity only means potentiality for rationality and how for this potentiality is actualized depends on individual effort. So it demands liberty for all so that they may live according to their rational plan of life and develop their capacity for rationality and it gives direction to state that it must not interfere in their matter.

3. Universality owes from enlightenment that nature of truth is universal and objective and it is same for all so the differential treatment is not justified.

These beliefs demand liberty equality and fraternity for all. Liberty for liberalism means mostly negative liberty that is absence of interference and equality means equality before law and fraternity is only for pragmatic purpose and it is most difficult for a liberalism to explain the relation between individual and society and between individuals. Though liberty from the interference of other has provided a lot of personal space for individual yet it has laid the foundation for human rights, whereas liberty gives instruction to institution to ensure rights for all its citizens. But it cannot help to create peace and co-operation among members, or to resolve conflicts violence and dissatisfaction in the world. It is not arbitrary that liberals have more concerned for negative liberty. It is essential for their philosophy, because here individual is perceived as self centered person and he acts as independent and autonomous person only when his decision are not influenced or pressurized by others. Others are not naturally his fellow beings. They are perceived as threat for him so he needs absence from interference from others. Though Rawls has realized that the major threat comes not from individual but from the institution which are unjust. "Those oppressed by poverty on this view cannot be said to be free, nor can those suffering from a social system that favors and ranks some against the other."[6] Though liberty is essential for human development but liberalism has not and cannot convert this liberty as a tool for social development because it has

undermined the value of community life. Sandal claimed "Liberal theory fails to come with grip with the nature of embeddness in a particular time, place and culture."[7]

Equality in liberalism means only formal equality, i.e., equality before law or equal status of individuals in the eyes of state but it cannot imply social equality or construct an egalitarian society. Though Rawls through his difference principle tried to rearrange the inequalities in the favor of least advantaged. He says "Social and economic inequalities are to be arranged so that they are both.

(a) To the greatest benefit for the least advantaged.
(b) Attached to the offices and positions open to all under condition of fair equality of opportunity."[8] But it can help to curb social inequality. "Liberalism believes that most important political values are freedom and equality. Some other values to be as important and perhaps more important in particular what might be called the values of community life."[9]

Apart from, liberalism had another serious problem: "Government is supposed to be designed to protect individual from state."[10]

The most important liberties for liberalism is liberty of thought and expression and liberty of conscience or freedom of religion so that individual may act according to their plan of life but these aspects of right to liberty is also providing space for hate speech which is creating lot of violence in the world. In the name of liberty of thought and expression one can hurt the sentiments and emotions of others and in this way it is creating tension, hatred and violence in the society the reason is clear as liberalism does not give any strong basis for natural bonding among individuals.

Liberty equality and justice for all are the main thesis of liberalism and it tries to promote it through democratic government which promises on equal right for all to participate in political process, but in practice democracy operates with majority rule. So it in one of the reason that other group different from dominant majority feels that they are not in the consideration of the government. They lag behind in most of the policies of government. Though democracy promised equal treatment for all, but they are undermined, subvertitute silenced marginalized and oppressed not individuality but collectively, they lack the social space.

It is also acknowledged by Amartya Sen a noble prize winner that if there is a capability failure in all the members of a particular group it shows that something is wrong at the policy level which needs to be corrected. Liberalism not only proclaims liberty equality

and justice for all but also equal respect and concern for all its citizens and so it appreciates policy of toleration. "Respect for person involves the claim that the person should be allowed to act on their own conception of what is good and valuable for them and that is so for as they are doing this they are expressing their nature as rational and reflective being."[11] It is important for liberalism to relate individuality with diversity. In political liberalism Rawls has highlighted this issue and asked how is it possible there to exist over time a just and stable society of free and equal citizen who will still remain profound dived by reasonable religious philosophical and moral doctrine"[12] and the apparent answer is toleration.

It is true that toleration did not begin with liberalism, but liberalism is closely related with specific kind of toleration i.e., religious toleration "within liberal polices state has a duty of toleration that corresponds to the right of religious freedom."[13] but is their policy of toleration itself sufficient for peaceful social co-existence in a community where people with diverse life style live? Toleration in used as neutrality, indifference or suspension of judgment and in their way it tries to underrate it, what is needed for peaceful co-existence is not indifference but love and compassion for others.

Liberalism is not complete without economic liberalism, because it perceives market as the main source for economic activities and does not try to reduce this economic gap. Though Rawls through his principle of justice accepted difference principle as a principle for social justice which claim that these inequalities must be in favor of least advantaged, yet again this would not help to minimize their economic gap but it only claims that least advantaged must be profited from these social and economic inequalities but this cannot make much improvement. Economic inequalities leave large number of individuals to live with scarcity and adversity and this causes dissatisfaction and unrest in the society.

Due to the effect of matearlism development is measured on the basis of improvement in the consumption of material resources. Their developmental models are based on calculating GDP and per capita income, but it cannot tell the whole truth because it is possible that most of the income would remain confined only to very few people while others live in extreme poverty and adversity. The second flaw of this pattern is that it is concerned only to the material development but does not evaluate on what can be done to develop the character of human being and this also a reason that human beings without caring for others try to accumulate for themselves.

Liberalism has done much to transform the institution especially political institution no one deny it, it has created a common language for humanity by the concept of human rights but along with institutional change an internal change among human being is also required and it is true that liberalism cannot do anything to change or to transform human being. So the first objection is not correct, these problems are not the consequence of liberalism these are because of the selfishness of the individuals so it needs a theory which can change the individual perception, as it has done at institutional level and here I think Buddhism can help.

Starting with individualism, whereas individual for modern liberalism is a self centered, autonomous individual but for Buddhism acting as an independent human being does not require that he must act as self centered and self seeking individual. Its doctrine of pratitya samutpada gives a wonderful explanation of this world and its relation with individuals, it is principle dependent origination- "this being that arises"[14] The whole world is interdependent where everything is inter dependent and inter connected so it is impossible to achieve well being through perceiving one's own self interest. Ones well being can be achieved only pursuing collective well being. Acharya Shantidev says in Bodhichryavatara. "That if a particular limit grows or develops without the whole body being developed that is not good sign that is a disease. Therefore if one wishes to develop some undeveloped bunch, he must develop the body a whole"[15] and it creates a natural bonding among the member of the community.

Next come to the belief in rationality as it is apparent that rationality does not related with moral characters so instead of believing in the rational capacity of human being Buddhism focuses on rational inquiry and it is very important aspect of Buddhism because on the one hand it ruled out the submission to super power on the other hand motivate to investigate traditions and so it creates moral platform so that every human being may be associated with it. The distinctive feature of Buddhism was its freedom to theism. It is the only religion which opened its principle for rational investigation. Buddha himself stated his disciplines not to accept teaching simply because he is giving. But he says to use reason and to investigate the truth and then accept. Buddha said the Kalama people "not to accept teaching simply through tradition"[16] and its is also very interesting to note that it does not presume human being as an isolated and self interest seeking

individuals it is concentrated on their suffering and has tried to give a solution to come out of the circle of suffering. This is the reason it appealed to both intellectuals as well common man.
Here it becomes very important to know how Buddhism addresses to the dissatisfaction, conflict and violence of this world as it emerged in the midst of human suffering with the aim to remove off all suffering of living being.

Buddha traces the cause of suffering as ignorance the ignorance about the non substantial nature of the world, this ignorance creates greed and motivates individual to clinch to it, and this clinching creates distrust and dissatisfaction. Economic disparities which is major cause of conflicts in the world is seriously acknowledge by Buddha as liberalism tries to resolve it through the increase in production, but it has not succeeded, Buddhism approached from other direction it tries to curb the need of the individuals. It inspires individuals to put a limit on their need it must be on middle path neither too much nor too less.

Buddhism looked human life in its totality and considered all the aspects of human life. He also considered how peace should be maintained in a state? and what are the causes of dissatisfaction and violence? In kudanta sutt Buddha preaches that in order to eradicate crime, economic condition of the people should be improved. Liberalism also tries to improve the economic condition of individual by promoting utilitarianism that maximum utilizes for maximum number through free market economy. It tries to bridge the gap between unlimited desire and limited resource by focusing on material growth but Buddhism tries another path because mere satisfying the desire problem cannot be resolved, because as soon as one desire is satisfied. Hundred men come in that so it needs a samayak drishti. It instructs individual that he should himself restrict his desire and only those desire are needed to be fulfilled which are true in nature. So it tries to resolve lack of resources by demanding individual to put a restriction on his unlimited desires. Human being desires to accumulate more and more resource, because he thinks them something substantial but Buddha proved non substantiality of this world and its resources. So it can help to resolve economic deprivation in a better way because mere increase in production can not help it also needs a limitation on needs. Satisfaction of needs of human being is not an evil. Buddha did not declare common main's view about world as immortal nor treats it as an evil but suggests them to fallow

maddhyam marg that to avoid two extremes. One is life of sensuous pleasure and other is self mortification.

A lack of social space for minorities is a big problem for modern world but Buddhism has an excellent perception regarding this as it believes in middle path. That in human behavior must be balanced between egoism and altruism and it shows how absurd is to maximize for oneself while neglecting others because it believes in the principle of *Pratityasamutpada, i.e.*, the principle of dependent origination. The whole world is inter-dependent and interconnected. It is, therefore, impossible to achieve well being through pursuing one's own self interest. In Buddhist system individual and social are interrelated. This is no question of conflict and contrast.

Another problem is related with modern concept of development that is measured by the amount of consumption of resource. But this is not the development because development means development of human being and development of his capacities from an ordinary person to Buddhahood, the character development and it is eightfold path that is prescribed by Buddha for the development. "That is to say right views, right aspiration right speech, right conduct, and right mode of livelihood, right effort, right mindfulness and Right Rapture"[17] this development relates integrates individuals not dives them.

Religious tolerance is unique characteristic of liberalism it is also an important feature of Buddhism but, it is not mere toleration but love and karuna for other believers and it claimed that understanding of different view is also essential for better understanding of our own ideals, Buddha says "Monk not to get angry or pleased if other belittle or applaud the Buddha, the Dhamma or the sangha, else they would not be able to judge the truth of what the other way"[18]

Major cause of social disintegration and disharmony is hierarchical social order and graded inequality. Buddha theoretically rejected the principle of determining one's social status on the basis of birth though it is also accepted by liberalism, but when it accepted by a religion it affects a lot.

Buddhism treats individual a full fledged moral agent responsible for his deeds and this only decides his place in the society. Its strong emphasis on equality is a great achievement for every social theory. All human being are composed of five skandhas and there is no basis for social discrimination and human behavior must be balance between egoism and altruism.

It is true that liberalism has done much to change the institution but to change individual it needs Buddhism to supplement it so that liberty would not turn into to accumulate material things, but for self development. Equality not only before law but for potentiality for Buddha hood autonomy not as a competitor for others, but as a companion for other: Buddhism does not boast to change the world but tries to change the perception about the world so that this world would be a better one and worth living.

Note and References

1. Manning, D.J. 1976. *Liberalism*, London: J. M. And Sons Ltd., Reprinted 1982. P.14
2. Ibid, 1976. P.14
3. Hampton, Jean.1998. *Political Philosophy*, Delhi: Oxford University press. p.159
4. Rawls, John. 1971. *A theory of Justice*, Cambridge: Harvard university press. P.11. He perceived society as a cooperative venture for mutual advantage and principle of justice are those principles that free and rational persons concerned to further their own interest.
5. Hampton, Jean.1998. *Political Philosophy*, Delhi: Oxford University press. p.171
6. Ibid, 1998. p.171
7. Ibid, 1998. p.171
8. Rawls, John. 1971. *A theory of Justice*, Cambridge: Harvard university press. P. 250
9. Hampton, Jean.1998. *Political Philosophy*, Delhi: oxford University press. p.184
10. Ibid, 1998. P.191
11. Albert, Weale. "*Toleration, Individual differences and respect for person*" in John Horton ed. *Aspect of Toleration*, London: Methuen and co.ltd. 1985. P. 28
12. Rawls, John. 1993. *Political Liberalism*, New York: Colombia university press. P.54-55
13. Albert Weale. "*Toleration, Individual differences and respect for person*" in John Horton ed. *Aspect of Toleration*, London: Methuen and co.ltd. 1985. P. 28
14. *Madhyamika Karika* XXIV. P. 36
15. Vaidya, P. L. ed. *Bodhicharyavatara*, Darbhanga: Mithila University, 1988. ch. 3 verse 7.
16. *Kalama Sutta of anguttar Nikaya* vol. 1, P.88-89
17. *Madhyamika Karika* XXIV. P. 36
18. Sinha, J.N. 1952. *Indian Philosophy*, Vol. 2, Delhi: Motilal Banarasidas Publication, reprint 2006. P. 319
19. Quoted in G. S.P. Mishra, *development of Buddhist ethics*, Delhi: Munsi Manohar Publication pvt. Ltd, 1984. P. 184.

The Teachings of Sri Ramakrishna And Neo-Vedanta

Professor Gayatri Sinha
Former Professor & Head
Department of Philosophy
Rani Duragavati University, Jabalpur

Sri Ramakrishna Paramahansa has often been described as the founder of Neo-vedanta. There are some important in the life and teaching of Sri Ramkrishna. This was the foundation of Neo-Vedanta. He lived a life of manifold spiritual realisation. Sami Vivekananda is a Commentary on Sir Ramakrishna. But the commentator with his giant intellect and profound understanding made such distinctive contributions that his commentary becomes itself a Philosophy, just as Sankara's commentary on the Vedanta-Sutra is by itself a Philosophy. On the strength of his various spiritual experiences and realizations, Sir Ramakrishna taught many truths for the good of the world. It was a mission of his life to end conflicts and bring about reconciliation. His many teaching are very much relevant to the Neo-Vedantism and its practical Application. Although he has no interest on the ontology and Psychology, epistemology or textual interpretations of Upanishads, Gita and vedanta, but the attitude towards the life and humanity, the way of formulating the deepest meaning of the human soul is remarkable. His life was a living, blazing spirit of Vedanta.

Vedanta emphasizes on the harmony between the individual and the Universal. Following the tradition of the Vedanta, Sri Ramkrishna knowledge in very simple and colloquial style. The secret of the power people speak and think. the often says that I am an illierate man, but the Divine Mother supplies knowledge from behind. Sri Ramakrishna exponent of Advaita Vedanta and gave a new, simple interpretation to it. The fundamental princpals of Neo-Vedanta rest upon 'Prasthan Traya'. It is true that "The germs of Neo-Vedantism as also the rationale and beginning of Sri Ramakrishna". According to Sri Ramakrishna, Brahman and Sakti are one. He use to say, whenever you are conscious of yourself. and the external world, you are within the jurisdiction of this Sakti, this Divine Prakriti. Every body is the same Atma Krishna says.

विद्या विनय संपन्ने ब्राम्हणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्पाके च पण्डिताः समदर्शिनिः।।5।।18।।

The Panditas of the self look with an equal eye on a brahmana endowed with learning and huminity, a Cow, an elephant, a dog,

and an eater of dogs. One become a knower, whose knowledge has grasped the trugh of the Atman. Knower is Samdarsi, because knower sees all with an equal eye'.

This is also the teaching of Upanishada and Vedanta. Accepting these views Sir Ramakrishna also says about unity. He says, that ignorance leads to diversity. Knowledge leads to Unity. He saw Brahman in animals, in human beings, in nature. For him everyone is Brahman. He saluted everyone. Lord Krisna Says,

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनिः।।30।।5।।

One who sees me in all beings and sees all being in Me, such a one never becomes separated from me. For Sir Ramakrishna these are not only words, theories or doctrine, but the reality. Seeing all as equal is his profound messages Samadarshitya. As you feel about yourself, feel about others also. Whatever is not good or pleasant to you do not be there. We have intellect, brain but feelings, concern for others are not there. This is the reason that we have brought our society to the lowest leve. Vedanta gives us the way to get that inner change in us and now there is a revolutionary change. Sri Ramkrishna has brought the memory of Golden Age.

Sri Ramakrihsna stressed the profound idea of Gita and Advaita Vedanta. According to him God can be seen not only with eyes closed in meditation, but also with eyes open at the time of work. Such teaching has come from Buddha also, Buddha says you throw away save him. Although his teaching is essentially of the path of jnana but it is for humanity too. The teaching of Gita is essentially a teaching of in action for welfare of the world and developing the spiritual awareness along with it, is not only superior but excellent. Do action for the good for all. One can not ignore all of them and remain quiet in own way. The universe has come from Brahman, lives here and returns to Brahman. In his own words, "There are not two gods. Meditate closing your eyes on God within you and when you open your eyes, the same God is in front of your. Who is inside as well a outside "Therefore, he says, 'every jiva is siva'. Service of the jiva is worship of siva. The teaching of Gita and what to-day the teaching of Sri Ramakrishna, Vivekananda, Aurovino, Rabindranath Tagore and Gandhi about the Advaita Vedanta are bnased upon the divine unity.

Their wonderful teaching is ment to make for a fulfilled humanity. Vedanta is not only for the Hindus but for all. Because it teaches us about highest ideal. The ultimate trugh of life is that

where we realize the oneness, soul and Brahman are one. You are the Brahman, 'O a, the Brahman. Realise that the soul and Brahman are identical, "Tat-tvamsi "Aham Brahmasmi". There is an unity amongst the differences. There are no internal; and external differences in the Brahman. It is all one. This is the exxence of Vedanta. The soul, neither born not die these are mere superstitions. Like Vedanta Sri Remakrishna teaches us to have faith in life. All the powers in the Universe are our.

There are three main schools of metaphysical thought, absolute monism, qualified monism and dualism. They are complementary not contradictory because their paths lead to the same goal. According to 'Brahman' is non-dual. It is consciousness, real and infinite. Ramanuja advocated that Brahman' ios a qualified non-dual. 'Brahman' is whole, world and self are the parts of th at whole. Living being are the servants of God advocated by Madhva. For Sir Ramakrishna, absolute reality is Truth-consciousness and Bliss. Sat-cit-Ananda. He says that, Brahman is real and its power (Sakti) is also real. Ramakrishna approached reality along many paths and says, "As many Faith, so many paths. Rig-ved declares, the one reality is called by the wise in different ways. एकम सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। Ramakrishna clearly explained that there is no harm if there are as many religions as there are individuals, because whatever religion a may follow honestly must lead him to God or Infinite and spiritual realization. Reg-ved also pointed out that 'Ekam Va Idam Vi bhuna Sarvam'. That which is one has become the All. There are infinite name and forms of God, through which we may approach Him. In Gita Krishna says, I manifest myself in the form in which the devotee likes to serve me.

Sri Ramakrishna teaches us that Brahman and Sakti are not two different realities whbich are separate to each other. As a matter of fact they are two aspects of the same reality. Just as the water of th e sea is the sometimes moving and sometimes remain motionless. The same snake sometimes crawls and sometimes remain coiled up and motionless. Just like the same reality is called Sakti or Brahman. He says that the same reality that is the nameless and formless Brahman. The same water of the sea is sometimes because of cold appears into the from of Ice and dissolved into formless water because of the heat.

So reality also takes on form and shape for the devotee and formless for jnani. Sir Ramakrishna saif that there are seven levels of consciousness when human mind rises, to the Sixth level they

have the experience of the forms of God, but in the seventh stage, it is absorbed in Samadhi and perceives no forms. He explained this in a very simple manner, with the help of simple examples. In a very ordinary language he teaches the highest truth. D.M. Datta while appreciating Sri Ramakrishnas method of explaining the reality, writes, "The account of modern religious currents of India would be incomplete without any mention of the work of Ramakrishna Paramhansa. An illiterate temple priest, who had been initiated into the Tantric, Vaishnave and vedantic methods of spiritual discipline, Ramakrishna attained by each, the desired goal as an Orthodox Hindu. He then practiced with similar success the Islamic and Christian forms of worship and realized ultimately that all paths lead unto God. He justified even the symbolic worship of God through an image as one of the possible methods. His plain but direct, teaching arrested the attention of many educated persons whose doubts he would remove by very homely arguments and examples.

Sri Ramakrishna says that "it is this universal consciousness that has become all this, it is Brahman that has become that twenty four principles from prakriti down to the physical elements. Just as we leave behind us all the steps of a stair in order to mount the roof of a building and on reaching it find that the stair is built of just the same material as the roof is made of, so we realize brahma by following the negative path of withdrawal from the world (Neti Neti), but on realization find that Brahman is present everywhere in the world. This is Sri Ramkrishna's five way of illustrating spiritual truths that baffle all attempts as a logical explanation."

The whole world is full of Brahman realize Brahman as Infinite existence, Infinite knowledge and Infinite Bliss. According to Sri Ramakrishna, we have to go the negation, and then the positive side will begin. First, of all we have to give up our ignorance and then truth will begin to reveal itself to us. Sri Ramakrishna advised that do whatever you like to do, do it. But do it with the knowledge of the non-dual Brahman. Tied up the knowledge of Brahma in a corner of your cloth. He was the living demonstration of the truths of the Vedanta. Some incarnations were well versed in the scriptures, they are great scholars Philosophers but Sri Ramakrishna was different. Scholars were to struck dumb while discussing Philosophical, religious problems with him. For him understanding reality only through discussion and knowing the reality through realization are not the same. He had a unique

insight. He never preached his own doctrine. He only said that The goal of human life is to realize God. He explained it in a very simple lauguage. According to him without God, life is full of misery. So realize Him. You have came to eat mangoes in the garden eat mangoes. What is the use of counting leave and branches? "If you want to know what road leads to Varanasi, you must have faith in the words of those who have gone there. Then you will have to go there yourself and see thing with your own eyes".

Sri Ramakrishna removed all contradictions and brought a harmony of paths of yoga & of all religions. He prayed for humanity and said, "Mother, if for the good of humanity I am to suffer a million times, I shall bear it gladly. Salvation of one's own self and good of the world. Men create sects when their hearts are full of weakness, fear, and hatred. The stagnant water of a little lake becomes dirty and foul, but the few flowing water of a river is never polluted. Sri Ramkrishna lived in this world by giving the power of attorney to the Divine Mother means complete surrender. It is not easy to do. Lord Krishna says.

अन्नयाश्चिन्तयत्नो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम बहाम्यहम्।।9।।22।।

The devotees, however, who love no one else constantly think of Me and worship Me in a disinterested spirit. To those ever united in thought with Me. I bring full security and personally attend to their needs.

It is very difficult practice, because if there is an iota of ego, one cannot give power of attorney to anyone. Sir Ramakrishna says, "After giving the power of attorney, one should live like a dry leaf at the mercy of the wind. God takes all the responsibility. When God's grace comes, a person attains infinite knowledge. Atma cannot be attained through logical discussion or memorizing the Ved, Upanishad, Gita and Vidanta or reading many books. Mere learning without realization is useless. Ramakrishna says that the Pure Atma is the Great cause. The cause of the cause. The Pure Atma alone is real nature. Sarikaracharya's 'Atma-Bodha' is a short treatise on Advaita Vedanta. He says in Atmabodha that every soul is divine. One must realize that truth. During the state of ignorance it remains oblivious of its spiritual nature. Only self knowledge can destroy of its spiritual nature. Only self knowledge can destroy ignorance and free on from repeated rebirths in Sansara. Self knowledge alone is the direct cause of Liberation. Atma-Bodha presents the progressive thought of man. Vedanta is

the base of the spiritual culture of India as Veda, Upanishad and Gita are the spiritual base of Indian tradition. They teaches us the knowledge of self. Nachiketa requested Yama for the knowledge of the self. Narada approached Sanatkumar for the knowledge of self and says, that, Whatever I know, are only the words, the sacred books, I do not know the self. Teach me the the Secret of the Self vedanatic Guru knows that and says about the Sadhanachatustaya. These are Viveka, Vairagya, Satsampatti and mumukatvam. For the knowledge of soul these abov e four instruments are essential. Intellectual understanding of Vedanta must be followed by real transformation of life, otherwise it is of no practical benefit in life. Sri Ramakrishan like a real Guru, father of the disciple, teaches us the practical aspect of Vedanta, for practical benefit in our life. He says when we exploit others, we treat them as objects. But individuals are not object they are spiritual. There is a unity, harmony in the world.

Accordingly to Sri Ramakrishna, names and forms are because of Him and remain in Him. There is nothing but He. In his words, 'The waves, the foam, the bubble they are all nothing but water. Who cares if your doctrine of superimposition stand or falls ! He who has known this truth cannot be content with a lesser stand point.' Nobody is beyond spirituality, every body is spiritual. Sankaracharya says 'that atmanam vimuktah jagat asat sampadyate' take away the self oratman from the world, the world becomes a zero. In the teaching of Vedanta is very clear, Vedanta says, run after power, name, fame pleasure but keep your eyes open. A time will come when you will realize that there are nothing. Something higher will attract you. Be prepare for that. Live in the world, but do not get immersed in worldliness. This is the teaching of Sri ramkrishna too. He says "these are two aspects of Maya one is Avidya Maya and another is Vidya Maya. Avidya Maya makes for delusion and delusive actions. But Vidya Maya lifts one to higher and higher levels. Try to deyelop Vidya Maya. So that, compassion, love, sacrifice, a spirit of service, trughfulness, pettiness, violence, hatred, exploitation in the heart of human being. H e further says, 'Try to develop vidya Sakti, Vidya Maya, and then that delusion will not dominate you.' Let Vidya Maya be within us. Vedanta says that where consciousness penetrate through physical appearances to higher stage twe realize the unity behind all diversity. This is called our spiritual evolution. Sri Ramakrishna says. 'God dwells even in stones and trees, but he

manifests especially in human hearts and he plays with human beings. In Gita Sri Krishna pointed out that.

योग युक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्म भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।7।।

With a little improvement of spiritual power one feels one's oneness with others. Realize that truth. Vedanta is comprehensive philosophy. Swami rangnathananda writes, "A different approach came from the Advaita Vedanta of Sri ramkrishna. A human being there is in distress. How can you ignore that? So, that, Advaita has become transformed into real Advaita today; that there is only one; as when you close your eyes, Brahman is there, so also when you open your eyes, Brahman is there." He further writes," The Gita teaching, and today, the Ramakrishna Vivekananda's teaching of Advaita, is based upon this idea that the divine is in the heart of all. We have to worship God by serving people around."

The practical side of Neo-Vedanta is to see God in everything. We are all children of the immortal. Always Pure and Always Free. We are neither weak not sinful. Vedanta recognizes no sin. Sri Ramakrishna also says that there is no Sin. Do not think of Sin. His teaching of New-Vedanta is living Vedanta. The Soul is ever free and, boundless and eternal. To realize this truth is the destiny of man. This is what to-day the whole world must learn. The whole Universe is nothing but Pure consciousness.

Note and References

1. Vivekananda Centenary Memorial Vol. 260
2. The Chief Currents of Contemporary Philosophy, by D.M. Datta, P. 573
3. Vivekananda Centernary Memorial Vol. P. 267
4. Ramakrishna as we saw Him, by Swami Chetanandand, P. 109
5. Ibid P. 169
6. Universal Message of the Bhagwat Gita, by Swami Rangnathanand PP. 12.13
7. Ibid P.13

On Justification of Human Rights

Ved Prakash Upadhyay

Assistant Professor, Syama Prasad Mukharjee College, Allahabad

The Universal Declaration of Human Right (UDHR) was adopted by the General Assembly of United Nations on December 10, 1948, at Palais de Chaillot, Paris. The Declaration was adopted due to the experience of the Second World War. It represents the first global expression of rights to which all human beings are inherently entitled.

(I)

It **consists** of 30 articles which have been elaborated in subsequent international treaties, regional human rights, national constitutions and laws. The International Bill of Human Rights consist of the Universal Declaration of Human Rights the International Convent on Economic, Social and Cultural Rights, the International Covenant on Civil and Political Rights and its two Optional Protocols. In 1966 the General Assembly adopted the two detailed Covenants, which complete the International Bill of Human Rights. After the Covenants had been ratified by a sufficient number of individual nations in 1976 the Bill took on the force of international law. During the Second World War, the allies nations adopted the Four Freedoms, like freedom of speech, Freedom of religion, freedom from fear, and freedom from want as basic needs. The United Nations Charter *"**reaffirmed faith in fundamental human rights, and dignity of the human beings***. It also committed all member states to promote *"**universal respect for***, and observance of human rights and fundamental freedoms for all without discrimination on the basis of race, genders, region, language and religion. A universal declaration that specified the rights of individuals was necessary to give effect to the Charter's provisions on human rights.

It is significant to mention here the structure of the Charter on human rights that Article 1 and 2 are the foundational regarding dignity, liberty, equality and brotherhood. The main body of the Declaration constitutes of four columns[1] mentioned as under :

(1) The First column (article 3-11) constitutes right of the individual, such as the right to life and the prohibition of slavery. Articles 6 through 11 refer to the fundamental legality of human rights with specific remedies cited for their defence when violated[2].

(2) The second column (article 12-17) constitutes the rights of the individuals in civil and political society.
(3) **The third column** (articles 18-21) is related to spiritual, public and political freedoms as such.
(4) Articles 22-27 set out social, economic and cultural rights. These articles are concerned with the duties of individuals to society and the prohibition of use of rights in contravention of the purpose of the United Nations Organization.

The **adoption** of the universal declaration of human rights is a significant international commemoration marked each year on 10 the December and it is well known as International Human Rights Day. The commemoration is observed by individuals, various communities, religious groups, human rights organisations, parliaments, governments and the United Nations. Decadal commemorations are often accompanied by campaigns to promote awareness for human rights. The year 2008 was marked as the 60th anniversary of the Declaration and was accompanied by year long activities around the theme on "*Dignity and justice for all of us*"[1]

In the preamble, emphasis has been laid for progressive measures which secure the universal and effective recognition for observance of the human rights. Eleanor Roosevelt supported the adoption of the UDHR as a declaration, rather than as a treaty because she believed that it would have the same kind of influence on global society, as the United States Declaration of Independence had within the United States. Though it is not legally binding, the Declaration has influenced most of national constitutions since 1948. It has been treated as the foundation for a growing cyber of national law, international laws, and treaties, as well as regional and national institutions which are committed for protecting and promoting human rights. These human rights and fundamental freedoms are binding on all member states of UNO.

For this reason the universal Declaration is a fundamental constitutive document of the U.N.O. It is a powerful tool in applying diplomatic and moral pressures on governments that violate any of its articles. The United Nations International Conference on Human Rights (1968) passed that it *"**constitutes an obligation for members of the international community**"* to all persons. The declaration has served foundation for two bindings; UN human rights covenants as well as the International Covenant on Civil and political rights. The International Covenant on Economic, Social and natural Rights, the principles of the Declaration are elaborated in international

treaties. The Declaration continues to be widely accepted by governments, academicians, advocates and constitutional courts for the protection of human rights.

The Universal Declaration of human rights was appreciated by a number of notable personalities. Eleanor Roosevelt, the first chairperson of the commission on Human Rights (CHR), who stated that it ***might become the international Magna Carta of all men everywhere,*** and ***Speech of the human conscience of our time***. "In a statement on 10th December on behalf of the European Union Marcellow Spatafora said, *"**it placed human rights at the centre of the framework of principles and obligations shaping relations within international community**"*. However a number of scholars in different fields have expressed suspicion over the Declaration of human rights and alleged western bias. These include Irene Oh (Religion and Ethics), Abdul Aziz (Religion), Riffat Hassan (Theology) and Faisal Kutty (Law).

It has been alleged that human rights belong to the western origin and orientation of this Declaration, the "**universality**" of the assumptions of which it is based is-at the very least-problematic and subject to questioning. Furthermore, the alleged incompatibility between the concept of human rights and religion in general or religion in particular, such as 'Islam' needs to be examined in an unbiased way". Irene Oh argues that on the way to reconcile the two is to approach it from the perspective of comparative ethics. Kutty has pointed out that the current formulation of international human rights constitute a cultural structure in which western society finds itself easily at home. It is important to acknowledge and appreciate that other societies may have equally valid alternative conceptions of human rights.

However, despite these criticisms and suspicious on human rights, they have wider relevance and acceptability in the globalising society. The horizon of human rights is extending day by day which includes elimination of all forms of discrimination including racial, gender, region, religion, language and the like. However, recognition of inherent dignity and of the equal rights of all human beings is the foundation of the philosophical justification of human rights.

(II)

In this regard, the contributions of Kant **has** paramount significance. Kant has established the moral principle of the categorical Imperative by idea of self-evaluation and self-discipline

of each individual. In this regard, Kantian maxims in his famous 'Critique of Practical Reason' are most significant. In the under mentioned maxims of morality, he says:

1. "Act only on that maxim which thou canst will to be universal law[2]. This maxim shows that what is right must be universal." Act in such as way as you could will that everyone else should act under the same general condition". This is Kant's first maxim of morality.
2. The next maxim, as he says, "So act to treat humanity whether in Own person or in that of any other, always as a end, and never as a means."[3] He has emphasized to treat human personality as an end and not as a means, because man is essentially rational in nature and has absolute worth. He says that let us try always to perfect thyself and try to conduce the happiness of others by bringing favourable circumstances".
3. In the another maxim Kant has pointed out, "Act as a member of a kingdom of ends" or "act as the will of any other rational being, "qua rational were the legislator of the action". This is the third maximum of morality. Thus, the Kantian maximum of morality states that the rational will of man imposes upon it-self and so it is a universal law that holds for all and are acceptable to all. A society of rational beings would result, in a kingdom of ends which implicitly commands a perfect society.[4] Therefore every rational being ought to act as if he were by his universal principles of **good will** and become a legislative member of a universal kingdom of ends. He is both sovereign and subject which means he acknowledges both the law of state and morality. Kant by virtue of his morality, says that human being is as member of a spiritual kingdom, in recognizing the authority of the law.

Thus, Kant has furnished the ***'Principle of Humanity'*** that everyone has the right to live his/her life in accordance with his/her own freedom of will regarding religion, the way of life and the moral virtues, such as, dignity and honour etc, so long as one does not infringe on the right of others to do the same.[5]

In this regard, John Rawls has pointed out that we can understand what human rights are and what their justification requires by identifying the main roles they play in some political sphere. Rawls was attempting a normative reconstruction of international law and politics within today's international systems, and this helps in explaining Rawls focus on how human rights

function within this system. Rawls says that human rights are a special class of urgent rights. The international human rights for which he was concerned are also defined by their roles in helping to explain the normative structure of the global system. They provide content to other normative concepts such as legitimacy, sovereignty, permissible intervention, and membership in good standing in the international community".[6]

In his famous work *"A theory of justice" Rawls has advocated a modest list of human rights, that belongs to fundamental freedom, rights of political participation, and equality rights.* He viewed serious violation of human rights as triggers of the permissibility of various kinds of intervention by other countries, and only emphasis to protect the most important rights can play a positive role in defence of human rights."[7]

In this regard Charles Beitz' shares many similarities with Rawl's. Like Rawls, Beitz deals with human rights only as they have developed in contemporary international human rights practice. Beitz suggests that we can develop an understanding of human rights by attending to "the practical inference that would be drawn by competent participates in the practice from what they regard as valid claims of human rights. The focus is not on what human rights are at some deep philosophical level it is rather on how they work by guiding actions within a recently emerged and still evolving discursive practice. ***As he points out that human rights are "matters of international concern" and that they are "potentially triggers of transnational protective and remedial action***.[8]

He accepts that the requirements of human rights are weaker than the requirements of social justice at the national level, but he denies that human rights are minimally or highly modest in other respect. Beitz rightly suggests that a person can accept and use the idea of human rights without accepting any particular view about their foundations. Beitz emphasizes on the practical good that human rights do, and not their reflection of some underlying moral reality. This makes human rights attractive to people from around the world with their diverse religious and philosophical traditions. **The broad justification for human rights and their normative** acceptability is that they protect urgent individual interest against predictable dangers to which they are vulnerable under typical circumstances of life in a modern world order composed of states.[9]

Indeed, it appears that human rights are originated as moral rights but from the successive overview, the national and

International laws show that human rights are both moral rights and legal rights. Again, it is observed that there is a diverse categorization of Human Rights. Briefly speaking, Political thinkers (philosophers) generally accept two issues as the formal properties of human rights: (1) The object of human rights and (2) The force of human rights. They have tried to justify human rights by appealing single ideals such as equality, autonomy, human dignity, fundamental human interest, the capacity for rational agency and even democracy.

It is argued that human rights are justified on the ground that they have instrumental value for securing a necessary conditions of well-being of human existence. They have been called as "basic forms of human good", for providing the basis to human rights as follows:[10]

(1) Life and its capacity for development,
(2) The acquisition of knowledge, as an end in itself.
(3) The capacity for recreation
(4) The Aesthetic expression
(5) Sociability and Friendship
(6) Practical reasonableness, the capacity for intelligent and reasonable thought process.
(7) Religion or the capacity for spiritual experience

As H.L.A. Hart argues that all rights are reducible to a single fundamental right, i.e. equal right of all men to be free. Hart insists that rights of political participation or to an adequate diet are ultimately reducible to and derivative from individual's equal right to liberty[11]. In this regard Henary Shue argues that liberty alone is not ultimately sufficient for grounding all of the rights posited by Hart. Shue argues that many of these rights are applicable more than mere individual liberty. They may be extended to include security from violence and the necessary material conditions for personal survival. Thus, he grounds human rights upon liberty, security, and subsistence.[12]

With the above discussion on human rights it is apparent that the justification of Human Rights have been proved by the Kantian categorical imperative and it appears to be the most significant doctrine that could be taken into consideration. All the three maxims mentioned from Kant's moral philosophy may be treated as philosophical foundations of Universal Declaration of Human Rights. *In his categorical imperative Kant talks about duty for the sake of duty that is the moral command. But what he talks about motivation*

for duty is that it has respect for law. It reflects that duties are created by some kind of rules and laws which are based on ***Practical Reason***. The sense of duty for the sake of duty just reflects our moral binding for duties. The sense of duty bindings has also respect for law in a natural way. From this point of view, it may be concluded that Kant has laid down the foundation of Human Rights as he has humanized morality along with human rights.

The maxims of Kantian ethics have justified the Universal Declaration of Human Rights by UNO as global mission of peaceful co-existence and Punchshil. Thus Kantian moral philosophy paves a way for protection of human rights all over the globalising society both morally and legally.

Thus the recognition of human dignity without any discrimination would be the foundation of liberty, equality, justice and peace in the world. Contrary to this, violation of human rights and its disregard have resulted in barbarious and violent act against these rights. In order to protect human rights against tyranny and brutal violence, these rights should be protected by the rule of law or juristically.

Notes and References

1. Universal Declaration of Human Rights : (1948-2008) United Nations Retrieved, Feb., 15, 2014.
2. Paton, H.J. The Moral Law : Kant's Groundwork of metaphysis of Morals, London, Hutchinson University Library.
3. Opict (1969) p. 67.
4. The conception of an objective principle, so far as it is necessiating for a will, is called a command of reason, and the formula or command is called an imperative. (The categorical Imperative, p.114)
5. John Rawls, The Law of people (1999), p 15.
6. Rawls, Theory of justice (1971), p. 11-17
7. Charles, Beitz, The Idea of Human Rights, Oxford (2009), p. 91-95.
8. Ibid. p. 94.
9. John Finnis, Natural Law and Natural Rights, oxford (1980) pp.102-105.
10. Nickel James, making sense of Human Rights : Philosophical Reflection on the Universal Declaration of Human Rights (1987), p. 84.
11. H.L.A. Hart, Are there any Natural Rights? Philosophical Review, vol. 64, pp. 77-79.
12. Henry Shue, Basic Rights, IInd End, p. 20-40.

Epistemology of Human Rights & it's Critical Examination

Dr. Pawan Kumar Yadav
Assistant Professor
Department of Philosophy
C.M.P. P.G. College, Allahabad

Human rights are rights which all persons equally have simply in so far as they are human. But are there any such rights? How, if at all, do we know that there are? It is with this question of knowledge, and the related questions of existence, raises further, more directly conceptual questions if you attempt to answer of these questions. Alan Gewirth dealt with these questions in terms of Hohfeld's famous classification of four kinds of rights, the human rights are primarily claim-rights in that they entail correlative duties of other persons or groups to act or to refrain from acting in ways required for the right-holders having that to which they have rights.

It will help our understanding of this and other aspects of human rights if we note that the full structure of a claim-right is given by the following formula.

A has a right to X against B by virtue of Y.

There are five main elements here : First, the *Subject* (A) of right, the person or persons who have the right; Second, the *Nature* of the right; Third, the *Object* (X) of the right, what it is a right to; forth, the *Respondent* (B) of the right, the person or persons who have the correlative duty; Fifth the *Justifying Basis or Ground* (Y) of the right.[1] The Subjects of the human rights are all human being equally. The Respondents of the human rights are also human beings, although in certain respects governments have special duties to secure the rights. The Objects of human rights, what they are to, are certain especially important kinds of goods. I shall subsequently argue that these goods consist in the necessary conditions of human action, and that it is for this reason that the human rights are supremely mandatory. It is also largely because the human rights have these objects that they are uniquely and centrally important among all moral concepts since no mortality, together with goods, virtues, and rules emphasized in diverse moralities, is possible without the necessary goods of action that are the objects of human rights.

The nature of human rights is often expressed by formulations that are common to all claim-rights: that rights are entitlements, or justified claims, or the moral property of individuals. Human Rights are "*personally oriented normatively necessary moral*

requirements" Alan Gewirth elucidate the point of each of this definition. The point of calling the human rights '*personally oriented*' is to bring out that they are requirements that are owed to distinct subjects or individuals for the good of those individuals. This feature distinguishes human rights from utilitarian and collectivist norms where rights, if upheld at all, are consequential upon or instrumental to the fulfillment of aggregative or collective goals. The point of saying that the right are '*normatively necessary*' is not indicate that compliance with them is morally mandatory. Such mandatioriness distinguishes the human rights from virtues and other goods whose moral status may be supererogatory, such as generosity or charity.

Finally, in saying that human rights are '*moral requirements*'**.** I wish to indicate three distinct but related aspects of human rights; they are requirements, *first*, in the sense of necessary needs; *second,* in the sense of justified entitlements; and *third*, in the sense of claims or demands made on or addressed to other persons. These three aspects involve the relations, respectively, between the Subjects and the objects of the rights, between the Objects and their Justifying Basis, and between the Subjects and their Respondents.[2]

Alan Gewirth further said that the Justifying Basis or Ground of human rights is a normative moral principal that serves to prove or establish that every human morally ought, as a matter of normative necessity to have the necessary goods as something to which he is personally entitled, which he can claim from others as his due.

These considerations have a direct bearing on one of the other conceptual question, "In what sense may human rights be said to exist ?" The existence in question is not, in any straightforward way, empirical. Although Thomas Jefferson wrote that all humans- "are endowed by their Creator with certain inalienable rights", It is not the case that humans are born having legs. At least, their having legs is empirically verifiable, but this is not the case with their having moral rights[3] The having or existence of human rights consist in the first instance not in the having of certain physical or mental attributes, but rather in certain justified moral requirements, in the three senses of 'requirements' mentioned above.

There is, indeed, a sense in which the existence of human rights may be construed as consisting in certain positive institutional conditions. In this sense, human rights exist or persons have human rights, when and in so for as there is social recognition and legal enforcement of all persons equal entitlement to the aforementioned Object, i.e. the necessary goods of action. But this positivist

interpretation, since, as we have seen, the right are in the first instance justified moral requirement. In the phrase, "there are human rights," "there are" is ambiguous as between positive and normative meaning. In the sense of "existence" that is relevant here, the existence of human rights is independent of whether they are guaranteed or enforced by legal codes or are socially recognized. For if the existence of human rights dependent on such recognition or enforcement, it would follow that there were no human rights prior to or independent of these positive enactments,[4]

The primary relevant sense of the existence of human rights, then, is the normatively moral justificatory one. In this sense , for human rights to exist, or for all persons to have human rights , means that there are conclusive moral reasons that justify or ground the moral requirement that constitute the Nature of human right, such that every human can justifiable claim or demand, against all other humans or ,in relevant cases, against governments, that he have or possess the necessary conditions of human action.

The epistemological structure suggested by these considerations is uni linear and fundationalist, since the existence of human rights is held to follow from justificatory moral reasons and ultimately from a supreme moral principle. An alternative, coherentist structure would involve that the existence of human rights is not to be established in any such unilinear way but rather by a sequence of interrelated reasons that may themselves include judgments about the existence of human rights. This latter structure, however, besides being more complicated, may be convicted of vicious circularity, including the difficulty that it may hot serve to convince those who on purportedly rational grounds have denied the existence of human rights.

I think, there have, of course, been philosophers, such as Bentham and Marx, who on various other grounds have denied the very possibility of constructing a moral justificatory argument for human rights. Hence, they have denied that human rights exist in what I have said is the primary sense of such existence. Among the grounds they have given for this denial is the moral one that human rights are excessively individualistic or egoistic, so that their espousal leads, in Bentham's words, to overriding what "conductive to happiness of society",[5] and in Marxs words, to separating man from the values of "community" and degrading the sphere in which man functions as a species being."[6] I realized that they involve the epistemological question of whether a rational

justification can be given of a moral principle that holds that all persons equally have certain moral rights. Such a principle should be able to accommodate the social emphasis of thinkers like Bentham and Marx while avoiding their excesses.

Critical Examination of Answer of the Epistemological Question: Let us brief critical examination of some of the main recent attempts on the part of moral philosophers to work out an affirmative answer to the epistemological question of whether the existence of human rights can be known, proved, or established.

We should note the argument for human rights are sometimes identical with argument for distributive justice. One of the most traditional definitions of justice is that it consists in giving each person his due, and this is largely equivalent of given each person what he has a right to. Hence, rights are the substantive content of what, according to many conceptions of justice, ought to be distributed to persons. The universality of human rights is further brought out in the definition's reference to "each person," This definition as such, however, does not include the additional, formal idea of the equal distribution of rights. But many traditional conceptions of justice do, of course, incorporate this further element of equality.

The answer I shall consider to the epistemological question of human rights will also concide in part, then with answer that have been given in arguments for egalitarian justice, which involve especially that all persons have a right to be treated equally in certain basic respects. One traditional answer is Intuitionist, Thus, Thomas Jefferson held it to be "self evident" that all humans equally have certain rights and Robert Nozick has peremptorily asserted that "individual have rights."[7] Such assertion is not, of course, an argument for the existence of human rights; it would not serve at all to convince the many persons throughout history who have had different intuitions on this question. Hence, this answer fair to satisfy the condition of providing an argument.

The remaining answers to be considered to provide arguments of various sorts. One argument is "formal". It holds that all persons ought to be treated alike unless there is some good reason for treating them differently. The 'ought' contained in this principle is held to entail that all persons have a right to be treated alike and hence to be treated equals consideration. This principle is based on the still more general principle that cases which are of the same kind ought to be treated in the same way, and being human is held to be such a kind.[8] The formal principle raises many difficult

problems of interpretation. In particular, it leaves unspecified what constitutes a "good reason" for treating persons differently, that is, what sub-kinds are relevant to differential treatment, and, of course, very many differences, including intelligence, sex, religion color, economic class, have been held to be thus relevant. The principle, then, can eventuate not only in egalitarinism but also in drastic inegalitarianism of many different sorts, hence, the argument fails to satisfy what I shall call *the condition of determinacy*, since it may serve to justify mutually opposed allocations of rights.

Joel Feinberg, who sets forth the "interest principle" that "the sorts of thing who can have rights are precisely those who have (or can have) interests."[9] Now waiving the murkiness of the concept of "interests" I think this principle is true as for as it goes; but it does not, of itself, go for enough to provide an adequate basis for human rights. Feinberg's arguments for the principle establish at most that it gives a necessary rather than a sufficient condition for having rights. More generally, he dose not show just how the having of interests serves to ground the having of right. Hence, argument does not fulfill what I shall call the *condition of sufficiency*, of providing a sufficient ground for the ascription of rights. Moreover, since animals may have interests and human may have unequal interests, the "interest principle" does not justify either rights that belong only to human or rights that belongs to all human equally. Hence the argument does not satisfy the *condition of adequate egalitarian* premises, since it does not establish, *equality* of right among all humans.

William Frankena held that humans "are capable of enjoying a good life in a sense in which other animals are not ….. As I see it, it is the fact that all men are similarly capable of enjoying a good life in this sense that justifies the prime facie requirement that they be treated as equals".[10] The sense in question is one which Frankena identifies as "the happy or satisfactory life".

It will be noted that this argument moves from an "is" ("the fact that all men are similarly capable...") to an "ought" ("the requirement that they be treated as equals"). The argument does not fulfill the condition of logical derivability of "ought" from "is". For it fails to show how the factual similarity adduced by Frankena justifies the normative egalitarian obligation he upholds. It might accept the factual antecedent and yet deny the normative consequent, on the ground, e.g., that the value of some person's happiness or goodness of life is greatly superior to that of other persons, so that their rights

to happiness or to certain modes of treatment are not equal.[11] In addition, the argument may also fail to satisfy the condition of justified egalitarian premises, for it still remains to be shown that all humans are equal (or even sufficiently similar) in their capacity for enjoying happiness in the sense intended by Frankena.

Let us next consider a fifth answer to the epistemological question. This is a H.L.A. Hart's famous presuppositional argument. He says; "If there are any moral rights at all, it follows that there is at least one natural right, the equal right of all men to be free"[12]. His point is that all special moral rights are grounded either in Respondents freely choosing to create their obligations or in the fairness of having an equal distribution of freedom among persons who subject themselves to mutual restrictions. Hence, Hart's argument for the equal natural right of all humans to freedom is that this right is presupposed by all or at least some of the most important special moral rights.

This argument suffers from at least three difficulties first, it does not satisfy what I shall call the *condition of justified premises*. Hart has not adequately established there *are* the special moral rights that figure in the antecedent of his initial statement. He appeals especially to the rights created by promises. But it is not self-evident that an act of saying, "I promise," taken by itself generated any rights or duties. If there is indeed such generation, it is because there is presupposed a background institution defined by certain rules. Hart's argument fails to satisfy the condition of determinacy. For there may be morally wrong institutions, so that even though they are constituted by certain rules, these do not authorize valid rights and duties. Hart, however, has not provided this more general justification of the institution he invokes. Hence, since his implicit appeal to institution may yield morally wrong as well as morally institution may yield morally wrong as well as morally institution may yield morally wrong as well as morally right results, his premise is not morally determinate.

A further difficulty of Hart's argument is that, like Feinberg's arguments, it does not fulfill the condition of justified egalitarian premises. If special moral rights are to be used to show that there is an *equal* right of all men to be free, then such universal equality must be found in the special rights themselves. But that Hart not shown that all men equally derive rights from the transactions of promising, consenting and imposing mutual restrictions, the very egalitarianism he seeks to establish. A believer in basic human

inequality such as Nietzsche, would deny that all men are equal with regard to the special rights. Hence that's argument does not establish the egalitarian universalism he upholds.

A sixth argument for equality or rights is the procedural one given in Rawls's famous theory of justice. He justifies this equality by arguing that if the constitutional structure of a society were to be chosen by persons who are "in an initial position of equality" and who choose from behind a "veil of ignorance" of all their particular qualities, the principles of justice they would choose would provide that each person must have certain basic, equal rights[13].

This by now familiar argument fails to satisfy there important condition. One is *the condition of truth:* persons are not in fact equal in power and ability, nor are they ignorant of all their particular qualities. Hence, to assume that they are (in some sort of "original position"), and to base on his equality and ignorance one's ascription of equal rights, is to argue from a false premise. His argument also fails to satisfy the condition or rationally necessary acceptability to all rational persons, to which I have previously referred. For the total ignorance of particulars that Rawls ascribe to his equal persons has no independent rational justification. Hence, no reason is given as to why actual rational person, who know their particular characteristics, should accept the equality of rights that is based on their assumed ignorance. In addition Rawls's argument does not satisfy *the condition of non-circularity*. Since he attains his egalitarian result only by putting into his premises an equality (of power and ignorance) which can not itself be justified.

The seventh and final argument for equal human right that I shall consider here is based on the doctrine that all humans are equal in dignity or worth. Thus the United Nations Universal Declaration of Human Rights (1948), in its first article, say, "All human beings are born free and equal in dignity and rights". It is important to consider what is meant here by "dignity". Presumably, dignity is not an "empirical" characteristic in the way the having of interests or the capacity for feeling physical pain is empirically ascertainable. The sense of "dignity" in which all humans are said to have equal dignity is not the same as that in which it may be said of some person that he lacks dignity or that he behaves without dignity, where what is meant is that he is lacking in decorum, is too raucous or obsequious, or is not "dignified". This kind of dignity is one that humans may occurently exhibit, lack or lose, whereas the dignity in which all

humans are said to be equal is a characteristic that belong permanently and inherently to every human as such.

One difficulty with attempt to derive human rights from such inherent dignity is that the two expressions, "A has human rights" and "A has inherent dignity" may seem to be equivalent, so that the latter simply reduplicates the former. Thus, e.g. Jacques Maritain wrote; "The dignity of the human person? The expression means nothing if it does not signify that by virtue of natural law, the human person has the right to be respected is the subject of rights, possesses rights[14] however, the two expressions are thus equivalent in meaning, the attribution of dignity adds nothing substantial to the attribution of right, some one who is doubtful about the latter attribution will be equally doubtful about former. Thus, the argument for right based on inherent dignity, so for, does not satisfy the condition of non-circularity. It is the critical examination of seven recent attempts to give justificatory arguments for equal human rights : The examination has indicated that a successful argument must satisfy at least twelve conditions: providing an argument, determinacy, sufficiency, adequate egalitarian premises, logical derivability of "ought" from "is", rational justification of the criterion of relevance, rationally, necessary acceptability to all rational persons, adequate account of the objects of rights, justified premises, truth, non-circularity and empirical reference.

Note and References

1. Gewirth, Alan, Reason and Morality, Chs, 1-3
2. Ibid 3. Ibid 4. Ibid
5. Bentham, J. quoted in A Critical Examination of the Declaration of Rights, in Bentham's Political Thought, ed. Parekh, B., Barnes & Noble, p. 271
6. Marx, K., quoted in on the Jewish Question, in The Mary-Engels Reader, ed. Tucker, R.C., W.W. Norton, pp. 43-47
7. Nozik, Robert, Anarchy, Stare and Utopia, p. ix
8. Benn, S.I. & Peters, R.S., Social Principles & the Democratic State, pp.110-11
9. Feinberg, Joel, Right, justice and the Bounds of Liberty, p. 167
10. Frankena, W.K., The Concept of Social Justice in Social Justice, ed. Brandt, R.B., p.19
11. Viastos, Gregory, Justice and Equality in Brandt Richard, "Social Justice", pp. 52-53
12. Hart, H.L.A., Are There Any Natural Rights?, Philosophical Review 64, pp. 175, 189-91
13. Rawls, John, A Theory of Justice, p.11
14. Maritain, J. The Rights of Man and Natural Law trans. by D. Anson, p. 65

Nature and Value of First Order Ethics

Dr. Sony Perwin
Assistent Professor
Department of Philosophy
Nirmala College, Doranda, Ranchi-834002

It is customary to mention that ethics for its clarification of nature can start with an explanation of the derivation of the word from its root or else we can go through a number of working definitions of ethics. However, here we will proceed neither ways. Further, ethical matters are not matters pertaining to religion or God, that is, ethics has nothing to do with what a religion or religions propagate about absolute moral values.[1] Ethics hardly deals with a long list of sacred religious codes of morality believed to be sacred commands of an Authority that can be the only ground for the determination good life.[2] Equally true is that Ethics is a *philosophical reflection* of those social, cultural and religious dogmas which have been deemed to be the moral base for leading good life. Ethics is also a *philosophical critique* of our traditional customs and moral beliefs as well as our subjective standards which have replaced the grounds of good life. In this sense, ethics is a *philosophical critique of fictitious grounds of moral values, and ends and moral means*.[3]

Ethics takes interest in understanding the meaning of the "feeling terms", such as, emotion, pleasure and so on when they are used in ethical discussions and stated as, "happiness is good", "pain is undesirable" and so on. It has nothing to do with why at our mental level pain appears to be repugnant; rather on what grounds can we say that pain is undesirable and the ways in which the word "pain" is used in ethical parlance conveying meaning to us. Confusion about ethics is that, it is an art of living a good life in society. As if it is an art of converting not so good people to good people. As such, this art can be taught, which must have its own fixed grammar such as the art of music.[4] Ethics on the other hand argues that it is better to inquire whether there should be any fixed art of living and sacred way to prepare good society because ethics holds that we can take interest in discussing what exactly it is to be a good person and not a bad person, that is, what are the grounds of goodness and badness.[5]

In an introductory essay on "The problems of Ethics" in the *Encyclopedia of Philosophy,* edited by Paul Edwards, Kai Nielsen, remarks: "What ethics or moral philosophy is, and at best ought

to be, has always been variously conceived by philosophers. There is no controversial Archimedean point from which ethics can be characterized, for the nature and proper office of ethics is itself a hotly disputed philosophical problem. But there are some things which can be said on the subject that will elicit a wide measure of agreement, although in any description of ethics the emphasis and organization will display a particular philosophical orientation"[6]

We know that the primary or the first order task of ethics is to discuss about the "ground" or "grounds" of good life, that is, the "norm" or "norms" based on which we evaluate well intended voluntary human actions and ends of life to be good and others to be bad. The evaluative task of ethics is then its normative task with which we shall be primarily concerned here. In this sense, ethics is first of all a branch of philosophy that among other things, primarily lays down standards or norms for moral evaluation or moral distinctions. This is to say that ethics most importantly discusses about the norms of evaluating the moral worth of well intended human decisions and actions which influences humans, non-humans and a number of existential. Normative ethics or first order ethics is thus philosophical discussion concerning the grounds of rightness, goodness, desirableness,oughtness, dutifulness, obligatoriness of human actions. Normative ethics is the first order ethics not because it has emerged first in the history of ethics, rather it is primary or of major interest in philosophical reflection on moral matters. It is important to know that the first order ethics or normative ethics is predominantly *theoretical* in nature. As such, normative ethics systematically establishes first principles of morality, that is, what are the bases of or principles of good life for human beings. This is then philosophers' theoretical conception of the limits of good life for men. The first order ethics thus establishes first principles of morality which has been philosophers' primary interest, traditionally. Hence, first order ethics or traditional ethics states P.H. Nowell-Smith in his book *Ethics* in the following words: "In the past moral philosophers sought to give us general guidance concerning what to do, what to seek, and how to treat others. That is not to say that such philosophers as Plato, Aristotle, Epicurus, Hobbes, Spinoza and Joseph Butler functioned like parish priests or a citizens' advice bureau; they did not seek to give detailed practical advice as to how we should behave on a particular occasion, but they did believe that they could communicate some general but crucial knowledge of good and evil.

It was their belief that there is such a thing as a true moral code or a normative ethical system and those philosophers could show what it is. The philosopher's task, in their view, primarily consists in setting forth systematically the first principles of morality."[7]

However, to say that the first order ethics deals merely with the first principles of moral evaluation, is an under statement because traditional ethics takes other interests basic to the philosophical discussion of a good life. Most importantly, for the traditional moral philosophers, mere theoretical moral knowledge of good life is not sufficient. One has to apply this theoretical knowledge in real life situations so as to lead a good life. So knowing about the basis of goodness is to become good. In this sense, it is argued that being good is to do good and that something good has been done, is to know why something is good. So knowing, doing and becoming makes a comprehensive whole with regard to good. This is essentially Socratic and Aristotelian conception of traditional ethics that transcends pure theory of good life to enter to discussions of values, virtues and value-basing for being good. Normative or first order ethics relates itself to the discussion of basic virtues and values needed for a good life. It is important to know that for many later philosophers, the logic of moral discourse, analysis of moral language, including the analysis of language of values and virtues are more important. We will come to this shortly; for the present, the traditional first order ethics has not been completely rejected in recent times. First order interest in values and virtues has emerged with a renewed interest in virtue ethics and axiological ethics.[8] We have said before that ethics takes some interest in analyzing the psychological basis of ethics which is not exactly what is done in psychology. Ethicists study the different psychological stages of moral development and moral evaluation of human beings in societies. The description of cognitive, conative and affective states of mind is importantly discussed in traditional ethics.

From the discussion we come to know that first order ethics, which is looked after as traditional ethics, is of great importance. First of all it provides us with different generalizations formulated as standards or ideals related to human life and their complex interactions with the ecological community. Interestingly, these enable us to have numerous interactions and moral experiences amounting to moral knowledge or knowledge of what is of worth or value that is, what things are desirable, good, just, right and so

on. Such experiences and knowledge are not inherent in man. It is neither hereditary nor God given; the knowledge is rather by virtue of our complex interactions in this world of beings and things emanating different conceptions of the right, good, and just. Our complex interactions enable us to judge what is of moral worth and what is unworthy in this world. Often we freely interact among ourselves about the worth and the unworthy, for which most of us have no knowledge of standard ethical theories. Hence, our common moral experience doesn't prevent us from applying moral experience and pass moral judgments. Nevertheless, some of us have the theoretical and logical acumen to formulate some ideals of life or norms of morality. This is intellectual act of theorizing which is basic to normative ethics and for which trained ethicists have come to prominence. If common moral experience is unavoidable and important, first order theorizing is of equal importance because it systematically and logically shapes the ideals common people aspire and should aspire. It is not awkward to find that the common moral experience in moral discourses have traces of the principles of morals which are generalizable. That does not mean that the generalizable principles are one, rather they are numerous across the cultures and epochs. Equally true is that, there are numerous social mores, traditions and customs which impose them as morals of life. A trained moral philosopher who takes the burden of theorizing is a fit candidate for logical critique of common morals, habits and customs of societies taken to be sacred.

Moreover, a first order theoretical exercise is important because it encourages *descriptive study* of the morals taking cues from psychology, sociology and other sciences to work as important aids to the critique of moral matters. It learns from psychologists about human intention, feeling, emotion, motives, and the idea of consequences, decision, behavior and conducts of man across the culture to justify the so-called first principles of morality which are of great importance to the normativists. First order ethics is equally important so far to find out what is worthwhile and worthless, that is things of value and disvalue, things that constitute human virtue and vice and thus leads us to moral evaluation. All in all, the first order ethics, most importantly aims at the clarification of the psychological foundations of ethics, the first principles of morality and the values and virtues expected of moral beings.

Notes & References

1. Ethics or moral philosophy is philosophical reflection on moral matters and such reflection does not beg religious reflection that anchors on absolute moral value.
2. A critique of religious and authoritative ethics could be seen in Richard B. Brandt's, *Ethical Theory*: *The Problems of Normative and critical ethics*, Prentice-Hall, NJ, 1959.
3. For details see Richard B. Brandt's work: *Ethical Theory*: *The Problems of Normative and Critical Ethics*, Ibid.
4. For details see Gilbert Ryle's, "Can virtues be taught?" in R.F. Dearden, P.H. Hirst and R.S. Peters (Eds), *Education and the development of reason*, Routledge & Kegan Paul, London, 1972.
5. Ibid
6. Nielson, Kai, "The Problems of Ethics" in the *Encyclopedia of Philosophy* (Ed.), Paul Edwards, vol. III, Macmillan Publishing Co. Inc. & The Free Press, New York, 1966, p.117.
7. Quoted from Kai Nielsen's article, "The Problems of Ethics", Ibid, p.117.
8. For a complete account see W.K. Frankena's: *Ethics*, Prentice-Hall, New Delhi,1989.

दर्शन परिषद के 33वें अधिवेशन की वार्षिक रिपोर्ट

दर्शन परिषद् के 33वें अधिवेशन का उद्घाटन दि. 27 जनवरी 2018 को महाराजा शासकीय परास्नातक स्वशासी महाविद्यालय छतरपुर (म.प्र.) में सम्पन्न हुआ। उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता प्रो. प्रियव्रत शुक्ल, कुलपति, महाराजा छत्रसाल बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, छतरपुर ने किया। इस अधिवेश के प्रथम अध्यक्ष एवं मुख्य अतिथि प्रो.जगतपाल, नार्थ ईस्ट हिल यूनिवर्सिटी (NEHU)) थे। इसके अतिरिक्त दर्शनपरिषद के अध्यक्ष प्रो. सभाजीत मिश्र, उपाध्यक्ष प्रो. जटाशंकर, म.प्र. की वरिष्ठ दर्शानिक प्रो. गायत्री सिन्हा, महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. एल.एल कोरी, एवं स्थानीय सचिव डॉ. जे.पी. शाक्य ने उद्घाटन सत्र में दर्शन के उन्नयन से सम्बन्धित उद्बोधन किया। इसके अतिरिक्त दर्शन परिषद् के महासचिव डॉ हरिशंकर उपाध्याय एवं महाविद्यालय के छात्रसंघ अध्यक्ष सुश्री सोनम रावत ने मंच से अपने विचार व्यक्त किया।

उद्घाटन सत्र का प्रारम्भ कुलपति एवं मंचस्थ अतिथियों के दीप प्रज्जयल एवं स्वागत से हुआ। 'धार्मिक बहुलता' पर विषय प्रवर्तन करते हुए परिषद के सचिव डॉ. हरिशंकर उपाध्याय (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज) ने करूणा को सभी धर्मों के मूलतत्त्व के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। करूणा के आधार पर ही क्षमा, प्रेम, धैर्य, विनम्रता, सहिष्णुता आदि सद्गुण स्वयमेव आविर्भूत हो जाते है। उन्होंने रामायण, महाभारत, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम एवं अन्य धर्मों में निहित करूणा के व्यावहारिक दृष्टानतों का उल्लेख करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया कि करूणा ही धार्मिकता का मानदण्ड है। करुणा ही किसी रिलीजन के धर्म होने की तार्किक प्रगपेक्ष है उन्होंने धर्म के वाह्य एवं आन्तरिक पक्षों में भेद करते हुए सही धार्मिक होने के अर्थ का निरूपण किया।

प्रो. जगतपाल ने धर्म के तीन पक्षों आध्यामिक, नैतिक, एवं कर्मकाण्ड का उल्लेख करते हुए संविधान के संदर्भ में पन्थ निरपेक्षता की व्याख्या किया। उन्होंने निरपेक्ष धर्म के शाश्वत, सार्वभौम धर्म के स्वरूप एवं मानव मूल्यों की व्याख्या किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने धर्म पर आधारित नैतिकता एवं धर्म से निरपेक्ष नैतिकता में भेद किया। विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. प्रियव्रत शुक्ल ने धर्म के बौद्धिक आयाम एवं चैतषिक (चेतना) आयाम में भेद करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया कि रिलीजन चैतषिक आयाम पर आधारित है। धर्म के अन्तर्गत साधना परक एवं सम्पादन परक पक्ष जो ऋषियों, पैगम्बरों एवं सन्तों की अनुभूतियों में अभिव्यक्ति पाता है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रो. शुक्ल ने कहा कि धर्म स्वतः एक मूल्य है। धार्मिक बहुलता एकथ्य है। धर्म चेतना की अतीन्द्रिय अवस्था का परिणाम है। परिषद् के अध्यक्ष प्रो. सभाजीति मिश्र ने चारों पुरुषार्थों की सामञ्जस्यपूर्ण परिकल्पना की व्याख्या करते हुए उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश सरकारों से इण्टरमीडियट स्तर पर दर्शन के पठन-पाठन की व्यवस्था करने का आग्रह किया। सामाजिक कुरीतियों, पूर्वाग्रहों, भ्रष्टाचार-निवारण एवं मूल्यपरक शिक्षा हेतु दर्शनशास्त्र का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी एवं लोक कल्याणकारी है। डॉ. जे. पी. शाक्य के धन्यवाद ज्ञापन के पश्चात उद्घाटन सत्र का समापन हुआ।

दिनांक 27 जनवरी 2018 ई. को अधिवेशन का द्वितीय सत्र धार्मिक बहुलता पर आयोजित संगोष्ठी से प्रारम्भ हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो. दीपनारायन यादव (गोरखपुर) ने किया। वक्ताओं में से निम्नलिखित विद्वानों ने भाग लिया और अपने शोध प्रपत्रों को प्रस्तुत किया :

1. डॉ. गोपाल साहू (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)

2. डॉ. ऋषिकान्त पाण्डेय (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)
3. डॉ. कञ्चन सक्सेना (लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)
4. डॉ. रजनी श्रीवास्तव (लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)
5. डॉ. देवदास शाक्य (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन)
6. डॉ. सुशील तिवारी (डी.डी.यू. विश्वविद्यालय, गोरखपुर)

तृतीय-सत्र - शोध पत्र वाचन

वक्ता - अध्यक्षता डॉ. जटाशंकर

1. सुश्री ऋचा मिश्रा, विषय - भाषा विज्ञान - दर्शन
2. धर्मेन्द्र कुमार - विट्गेस्टाइन का भाषा-दर्शन
3. डॉ. सुनील कुमार शुक्ल - कौटिल्य की दृष्टि में विवाह
4. आलोक द्विवेदी - मानव-धर्म की व्यावहारिकता
5. नीरजकुमार पाण्डेय - भारतीय दर्शन और जे. कृष्णमूर्ति
6. शशिकला यादव - महाभारत में भारतीय समाज की अवधारणा
7. संदीपकुमार चौरसिया - योग का शिक्षा-दर्शन

चतुर्थ-सत्र - व्याख्यानमालाएं

1. देवात्मा व्याख्यानमाला-प्रो. गायत्री सिन्हा (जबलपुर, मध्य प्रदेश)
2. प्रो. संगमलाल पाण्डेय व्याख्यानमाला- (अपरिहार्य कारणों से डॉ. शिवभानु सिंह की अनुपस्थिति में व्याख्यान पढ़ा गया)

दर्शन परिषद की सामान्य सभा एवं कार्यकारिणी की संयुक्त बैठक में लिए गये निर्णयों का कार्यवृत्त

दर्शन परिषद (उत्तर भारत दर्शन परिषद्) की सामान्य सभा एवं कार्यकारिणी की संयुक्त बैठक दि. 27-1-2018 को सान्ध्यबेला में महाराजा शासकीय परास्नातक महाविद्यालय में सम्पन्न हुई जिसमें सर्वसम्मति से अधोलिखित निर्णय लिए गये :

1. सदस्यों ने सर्वसम्मति से पिछले कार्यवृत्ति की पुष्टि की।

2. अगले अधिवेशन के स्थान के चयन पर विचार-विमर्श करने के पश्चात यह निर्णय गया कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी के कुलपति से यदि कोई प्रस्ताव आता है तो उसे वरीयता प्रदान की जाय। इसके अतिरिक्त यदि देवसंस्कृति विश्वविद्यालय हरिद्वार से सितम्बर 2018 ई. में परिषद का अधिवेशन करने के लिए कोई प्रस्ताव आता है तो उसे स्वीकार किया जायेगा।

3. बैठक में अगले अधिवेशन की संगोष्ठियों एवं व्याख्यानमालाओं के विषय तथा वक्ताओं के नाम पर विचार-विमर्श किया गया। उसके पश्चात सर्वसम्मति से निम्नलिखित निर्णय लिये गये :

प्रथम संगोष्ठी

(I) अन्य मनस का ज्ञान (Knowledge of other minds) :

अध्यक्षता - प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)

1. डॉ. गोपाल साहू (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)
2. डॉ. संजय शुक्ल (ई.सी.सी. प्रयागराज)
3. श्री आलोक द्विवेदी (शोध छात्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)
4. प्रो. जगतपाल (NEHU)

5. डॉ. त्रिपुरेश त्रिपाठी (बड़हलगंज)
6. डॉ. रजनी श्रीवास्तवा (लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)
7. डॉ. एस. के. महाराणा (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)
8. डॉ. अंकित चौरसिया (दिल्ली)
9. डॉ. के. सी. पाण्डेय (लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)
10. धर्मेन्द्र यादव शोधछात्र (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)

द्वितीय संगोष्ठी

(II) विज्ञान और आध्यात्म

अध्यक्षता - प्रो. सुशील कुमार तिवारी (डी.डी.यू. विश्वविद्यालय, गोरखपुर)

वक्ता
1. प्रो. डी.एन.यादव (डी.डी.यू. विश्वविद्यालय, गोरखपुर)
2. डॉ. स्नेहलता पाठक
3. डॉ. ऋचा मिश्रा
4. डॉ. शशिकला यादव
5. डॉ. कविता सिंह
6. डॉ. नेहा शाक्य
7. डॉ. सुनील कुमार शुक्ल (शोध छात्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)
8. डॉ. देवदास साकेत (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन)
9. डॉ. ज्ञान प्रकाश (शोध छात्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)
10. सुश्रीमंजू सरोज (शोधछात्रा इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)

(iii) शोधवाचन सत्र

अध्यक्षता - डॉ. नितीश दूबे (डी.ए.बी. कालेज, कानपुर)

सदस्यों ने अगले सत्र की व्याख्यानमालाओं के लिए निम्नलिखित वक्ताओं के नाम सर्वसम्मति से स्वीकार किया।

व्याख्यानमालाएं :

1. प्रो.संगमलाल पाण्डेय व्याख्यान - डॉ. जे.पी. शाक्य, महाराजा शासकीय पी.जी. कालेज छतरपुर (मध्य प्रदेश)
2. देवात्मा व्याख्यान - डॉ. संजय शुक्ल (ई.सी.सी., पी.जी.कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज से सम्बद्ध)

परिषद् के सदस्यों ने संदर्शन के प्रकाशन हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) के द्वारा मान्यता प्राप्त 'रिफ्रीड जर्नल' के मानकों के अनुरूप व्यवस्था करने पर बल दिया। सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि दर्शन परिषद् के वार्षिक जर्नल 'संदर्शन' के प्रकाशन हेतु एक उच्च स्तरीय संपादक मण्डल की परामर्शदात्री समिति का गठन किया जाय। सदस्यों ने सर्वसम्मति से इस कार्य हेतु परिषद के सचिव डॉ. हरिशंकर उपाध्याय एवं मंत्री डॉ. नितीश दूबे को स्तरीय विद्वान/विशेषज्ञों से संस्तुति लेकर परामर्शदात्री समिति एवं संपादक मण्डल का गठन करने के लिए अधिकृत किया।

सदस्यों ने संदर्शन के प्रकाशन हेतु आर्थिक समस्या की ओर अध्यक्ष का ध्यान आकर्षित किया। विचार-विमर्श के पश्चात यह निर्णय लिया गया कि संदर्शन के प्रकाशन का व्ययभार दर्शन परिषद् (उत्तर भारत दर्शन परिषद) और दर्शन परिषद् के मुख्यालय दर्शन विभाग इलाहाबाद

विश्वविद्यालय, प्रयागराज के द्वारा संयुक्त रूप से वहन किया जाय। इनमें से संदर्शन के प्रकाशन व्यय का 50 प्रतिशत दर्शन विभाग के स्रोतों से एवं 50 प्रतिशत भार दर्शन परिषद् के कोष से वहन किया जाय। सदस्यों ने इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार किया। इस संदर्भ में अध्यक्ष दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज से अनुरोध किया गया। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए दर्शन विभाग ने विभागीय समिति से अनुमोदन होने के पश्चात संदर्शन के प्रकाशन हेतु कुल व्यय का 50 प्रतिशत व्यय भार वहन करने के प्रति सहमति व्यक्त किया।

सदस्यों ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया कि संदर्शन के प्रकाशन हेतु आनलाईन व्यवस्था हेतु कार्यवाही सुनिश्चित की जाय और इस कार्य हेतु परिषद् के सचिव से दायित्व निर्वहन हेतु अनुरोध किया जाय। अध्यक्ष महोदय ने इस कार्य में सहयोग करने एवं डेटाबेस दर्शन के एवं वेबसाइट तैयार करने हेतु डॉ. सुशील कुमार तिवारी से अनुरोध किया जिसे डॉ. तिवारी जी ने सहर्ष स्वीकार किया।

दर्शन परिषद् के अध्यक्ष प्रो. सभाजीत मिश्र ने यह प्रस्तावित किया कि दर्शन परिषद् के सम्पन्न अधिवेशनों के अध्यक्षीय व्याख्यानों को संकलित करके एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाय। इसके प्रकाशन हेतु प्रो. जटाशंकर जी से संपादक का दायित्व निर्वहन करने के लिए अनुरोध किया गया। डॉ. जटाशंकर के द्वारा संपादक के दायित्व निर्वहन करने की सहमति प्रदान की गयी जिसे परिषद् ने सर्वसम्मति से अनुमोदित किया जाय। 'दर्शन परिषद् के अध्यक्ष प्रो. सभाजीत मिश्र को धन्यवाद ज्ञापन के पश्चात दर्शन परिषद् की महासभा एवं कार्यकारिणी की संयुक्त बैठक समाप्त हुई।

प्रस्तुति
(प्रो. हरिशंकर उपाध्याय)
सचिव
दर्शन परिषद् (उत्तर भारत दर्शन परिषद्)
कार्यालय - दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज 211002